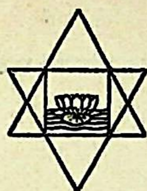


श्रीअरविन्द

धर्म और जातीयता



श्रीअरविन्द्

धर्म और जातीयता

श्रीअरविन्द आश्रम
पांडीचेरी

*

प्रकाशक

श्रीअरविंद आश्रम, पांडीचेरी

मुद्रक

श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

पांडीचेरी

द्वितीय संस्करण

मूल्य १।।)

A 496/52/6/2000

इस पुस्तकके सभी लेख सन् १९०९ में
'धर्म' नामक बंगला साप्ताहिक
पत्रके लिये लिखे गये थे।

हमारे लिये 'ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है', यह कहनेकी
अपेक्षा यह कहना उचित है कि 'ब्रह्म सत्य है,
जगत् ब्रह्म है।' यही उपनिषदोंका उपदेश
है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। इसी सत्यके
ऊपर आर्यधर्म प्रतिष्ठित है।

विषय-सूची

धर्म

हमारा धर्म

हमारा धर्म सनातनधर्म है। यह धर्म त्रिविध, त्रिमार्गगामी और त्रिकर्मरत है। हमारा धर्म त्रिविध है। भगवान्‌ने अन्तरात्मा, मानसिक जगत् और स्थूल जगत्‌में—इन्हीं तीन धामोंमें प्रकृतिसृष्ट महाशक्तिचालित विश्वके रूपमें अपने-आपको प्रकट किया है। इन्हीं तीन धामोंमें उनके साथ युक्त होनेकी चेष्टा करना सनातनधर्मका त्रिविधत्व है। हमारा धर्म त्रिमार्गगामी है। ज्ञान, भक्ति और कर्म—इन तीन स्वतन्त्र या सम्मिलित उपायोंसे उस युक्तावस्थाको मनुष्य प्राप्त कर सकता है। इन तीन उपायोंसे आत्मशुद्धि करके भगवान्‌के साथ युक्त होनेकी इच्छा करना ही सनातनधर्मकी त्रिमार्गगामी गति है। हमारा धर्म त्रिकर्मरत है। मनुष्यकी सभी प्रधान वृत्तियोंमें जो तीन वृत्तियां ऊर्द्ध्वगामिनी, ब्रह्म-प्राप्ति-बलदायिनी हैं, वे हैं—सत्य, प्रेम और शक्ति। इन्हीं तीन वृत्तियोंके विकासके द्वारा मानवजातिकी क्रमोन्नति साधित होती आ रही है। सत्य, प्रेम और शक्तिके द्वारा त्रिमार्गमें अग्रसर होना ही सनातनधर्मका त्रिकर्म है।

सनातनधर्मके अन्दर बहुतसे गौण धर्म निहित हैं, सनातनका

अवलम्बन कर महान् और क्षुद्र नाना प्रकारके परिवर्तनशील धर्म अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। सभी प्रकारके धर्मकर्म स्वभाव-सृष्ट होते हैं। सनातनधर्म जगत्के सनातन स्वभावपर आश्रित है और ये नाना प्रकारके धर्म नानाविध आधारगत स्वभावके फल हैं। व्यक्तिगत धर्म, जातिगत धर्म, वर्णाश्रित धर्म, युगधर्म इत्यादि नाना प्रकारके धर्म हैं। ये सब अनित्य होनेके कारण ही उपेक्षणीय वा वर्जनीय नहीं हैं, वल्कि इन्हीं अनित्य परिवर्तनशील धर्मों-के द्वारा सनातनधर्म विकसित और अनुष्ठित होता है। व्यक्ति-धर्म, जाति-धर्म, वर्णाश्रित धर्म, युगधर्म इत्यादिका परित्याग करनेसे सनातनधर्मकी पुष्टि नहीं होती, वल्कि अधर्मकी ही वृद्धि होती है तथा गीतामें जिसे संकर कहा गया है—सनातन प्रणालीका भंग और क्रमोन्नतिकी विपरीत गति—वह वसुंधराको पाप और अत्याचारसे दग्ध करता है। जव उस पाप और अत्याचारकी अतिरिक्त मात्रासे मनुष्यकी उन्नतिकी विरोधिनी धर्मनाशिनी आसुरिक शक्तियां वर्द्धित और वलशाली होकर स्वार्थ, क्रूरता और अहंकारसे दसों दिशाओंको आच्छन्न कर देती हैं, जगत्में अनीश्वर ईश्वर-का रूप ग्रहण करना आरम्भ करता है, तव भारार्त्त पृथिवीका दुःख कम करनेके लिये भगवान्के अवतार या विभूति मानव-शरीर-में प्रकट होकर पुनः धर्मपथको निष्कण्टक बनाते हैं।

सनातनधर्मका ठीक-ठीक पालन करनेके लिये व्यक्तिगत धर्म, जातिगत धर्म, वर्णाश्रित धर्म और युगधर्मका आचरण सर्वदा रक्षणीय है। परन्तु इन नानाविध धर्मोंमें क्षुद्र और महान् दोनों प्रकारके रूप हैं। महान् धर्मके साथ क्षुद्र धर्मको मिलाकर और

संशोधित कर उसका पालन करना श्रेयस्कर है। व्यक्तिगत धर्मको जातिधर्मके क्रोड़में रखकर उसका आचरण नहीं करनेसे जाति नष्ट हो जाती है एवं जातिधर्मके लुप्त हो जानेसे व्यक्तिगत धर्मका क्षेत्र और सुयोग नष्ट हो जाता है। यह भी धर्मसंकर है--जिस धर्मसंकरके प्रभावसे जाति और संकरकारीगण दोनों अतल नरकमें निमग्न होते हैं। सबसे पहले जातिकी रक्षा करनी चाहिये, तभी व्यक्तिकी आध्यात्मिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति निरापद बनायी जा सकती है। वर्णाश्रित धर्मको भी युगधर्मके सांचेमें ढालकर यदि उसे गठित न किया जाय तो महांन् युगधर्मकी प्रतिकूल गतिसे वर्णाश्रित धर्म चूर्ण-विचूर्ण और नष्ट हो जाता है और उसके फलस्वरूप समाज भी चूर-चूर और नष्ट हो जाता है। क्षुद्र सदा ही महानूका अंश या सहायक होता है; इस सम्बन्धकी विपरीत अवस्थामें धर्मसंकरसम्भूत घोर अनिष्ट होता है, क्षुद्र धर्म और महान् धर्मके बीच विरोध होनेपर क्षुद्र धर्मका परित्याग कर महान् धर्मका आचरण करना ही मंगलप्रद होता है।

हमारा उद्देश्य है सनातनधर्मका प्रचार करना और सनातनधर्माश्रित जातिधर्म और युगधर्मका अनुष्ठान करना। हम भारतवासी आर्यजातिके वंशधर हैं, आर्यशिक्षा और आर्यनीतिके अधिकारी हैं। यह आर्यभाव ही हमारा कुलधर्म और जातिधर्म है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म आर्यशिक्षाके मूल तत्त्व हैं, तथा ज्ञान, उदारता, प्रेम, साहस, शक्ति, विनय आर्यचरित्रके लक्षण हैं। मानवजातिको ज्ञान प्रदान करना, जगत्में उन्नत उदार चरित्रका निष्कलंक आदर्श रखना, दुर्बलकी रक्षा करना, प्रबल अत्याचारीको

दण्ड देना आर्यजातिके जीवनका उद्देश्य है, उसी उद्देश्यको सिद्ध करनेमें उसके धर्मकी चरितार्थता है। हम धर्मभ्रष्ट, लक्ष्यभ्रष्ट, धर्मसंकर होकर और भ्रांतिसंकुल तामसिक मोहमें पड़कर आर्य-शिक्षा और आर्यनीतिसे रहित हो गये हैं। हम आर्य होकर शूद्र-त्व और शूद्रधर्मरूप दासत्वको अंगीकार कर जगत्‌में हेय, प्रबल-पद-दलित और दुःख-परम्परा-प्रपीड़ित हो रहे हैं, अतएव यदि हमें जीवित रहना हो, यदि अनन्त नरकसे मुक्त होनेकी लेशमात्र भी अभिलाषा हो तो अपनी जातिकी रक्षा करना हमारा प्रथम कर्तव्य है। और जातिरक्षाका उपाय है आर्यचरित्रको पुनः अपने अंदर गठित करना। हमारा पहला उद्देश्य है अपनी समस्त जातिको विशेषकर युवक-सम्प्रदायको ऐसी उपयुक्त शिक्षा, उच्च आदर्श और आर्य-भावोद्दीपक कार्य-प्रणाली देना जिससे जननी जन्मभूमिके भावी सन्तान ज्ञानी, सत्यनिष्ठ, मानवप्रेमपूर्ण, भ्रातृभावके भावुक, साहसी, शक्तिमान् और विनीत हों। जबतक हम इस कार्यमें सफल नहीं होते तबतक सनातनधर्मका प्रचार करना केवल ऊसर क्षेत्रमें बीज बोनेके समान है।

जातिधर्मका पालन करनेसे युगधर्मकी सेवा करना सहज हो जाता है। यह युग शक्ति और प्रेमका युग है। जब कलिका आरम्भ होता है, तब ज्ञान और कर्म भक्तिके अधीन और सहायक होकर अपनी-अपनी प्रवृत्तिको चरितार्थ करते हैं, सत्य और शक्ति प्रेमका आश्रय लेकर मानवजातिके अन्दर प्रेमका विकास करनेकी चेष्टा करते हैं। बौद्धधर्मकी मैत्री और दया, ईसाई-धर्मकी प्रेम-शिक्षा, मुसलमानधर्मका साम्य और भ्रातृभाव, पौराणिक धर्मकी

भक्ति और प्रेमभाव इसी चेष्टाके फल हैं। कलियुगमें सनातनधर्म मैत्री, कर्म, भक्ति, प्रेम, साम्य और भ्रातृभावकी सहायता लेकर मनुष्य-जातिका कल्याण साधित करता है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्मके द्वारा गठित आर्यधर्ममें ये ही शक्तियां प्रविष्ट और विकसित होकर प्रसारित होने और अपनी प्रवृत्तिको चरितार्थ करने-का मार्ग खोज रही हैं। शक्ति-स्फुरणके लक्षण हैं कठिन तपस्या, उच्चाकांक्षा और महत्कर्म। जब यह जाति तपस्वी, उच्चाकांक्षी, महत्कर्मप्रयासी होगी, तब यह समझना होगा कि जगत्की उन्नतिके दिन आरम्भ हो गये हैं, धर्मविरोधिनी आसुरिक शक्तियोंका ह्रास और देवशक्तियोंका पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है। अतएव इस प्रकार-की शिक्षा भी वर्तमान समयके लिये आवश्यक है।

युगधर्म और जातिधर्मके साधित होनेपर सारे जगत्में सना-तनधर्म अबाध रूपसे प्रचारित और अनुष्ठित होगा। पूर्वकालसे विधाताने जो निर्दिष्ट किया है, जिसके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें भविष्य-वाणी की गयी है, वह भी कार्यमें अनुभूत होगा। समस्त जगत् आर्यदेशसम्भूत ब्रह्मज्ञानियोंके पास ज्ञान-धर्मका शिक्षार्थी बनकर, भारतभूमिको तीर्थ मानकर, अवनत मस्तक होकर इसका प्राधान्य स्वीकार करेगा। उसी दिनको ले आनेके लिये भारतवासियोंका जागरण हो रहा है, आर्यभावका पुनरुत्थान हो रहा है।

गीताका धर्म

जिन्होंने गीताको ध्यानपूर्वक पढ़ा है, उनके मनमें सम्भवतः यह प्रश्न उठ सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने बारम्बार 'योग' शब्दका व्यवहार किया है और युक्तावस्थाका वर्णन किया है, परंतु कहां, साधारण लोग जिसे योग कहते हैं, उसके साथ तो इसका कोई मेल ही नहीं दिखायी देता। श्रीकृष्णने जगह-जगहपर संन्यास-की प्रशंसा की है, अनिर्देश्य परब्रह्मकी उपासनासे परम गति प्राप्त होनेकी बात भी कही है, किन्तु इन्हें अत्यन्त संक्षेपमें ही समाप्त कर गीताके श्रेष्ठांशमें उन्होंने त्यागके महत्त्व और वासुदेवके प्रति श्रद्धा और आत्मसमर्पणके द्वारा परमावस्थाकी प्राप्तिकी बातको ही विविध उपायोंसे अर्जुनको समझाया है। छठे अध्यायमें राजयोग-का कुछ वर्णन है, किन्तु गीताको राजयोगप्रचारक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। समता, अनासक्ति, कर्मफलत्याग, श्रीकृष्णको संपूर्ण आत्म-समर्पण, निष्काम-कर्म, गुणातीत्य और स्वधर्मसेवा ही गीता-के मूल तत्त्व हैं। इसी शिक्षाको भगवान्ने परम ज्ञान और गुह्य-तम रहस्य कहा है। हमारा विश्वास है कि गीता ही जगत्के भावी धर्मका सर्वजनसम्मत शास्त्र होगी। किन्तु गीताका ठीक-ठीक अर्थ सब लोग नहीं समझते। बड़े-बड़े पण्डित और श्रेष्ठ मेधावी, तीक्ष्णबुद्धि लेखक भी इसका गूढ़ार्थ समझनेमें असमर्थ होते हैं। एक ओर तो मोक्षपरायण व्याख्याकारोंको गीतामें अद्वैतवाद

और संन्यासधर्मकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन दिखायी पड़ा है, और दूसरी ओर अंग्रेज-दर्शन-सिद्ध बंकिमचन्द्रको गीतामें केवल वीर-भावसे कर्तव्य पालन करनेका ही उपदेश मिला है और उसी अर्थ-को उन्होंने तरुणमण्डलीके मनमें बैठा देनेकी चेष्टा की है। इसमें सन्देह नहीं कि संन्यासधर्म उत्कृष्ट धर्म है, किन्तु उस धर्मका आच-रण केवल थोड़ेसे लोग ही कर सकते हैं। सर्वजनसम्मत धर्ममें आदर्श और तत्त्वसम्बन्धी एक ऐसी शिक्षा होनी चाहिये जिसे सर्व-साधारण अपने-अपने जीवन और कर्मक्षेत्रमें उपलब्ध कर सकें और साथ ही उस आदर्शका पूर्णरूपेण आचरण करनेपर अल्पजनसाध्य परमगतिको भी प्राप्त कर सकें। वीरभावसे कर्त्तव्य पालन करना उत्कृष्ट धर्म है—इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु कर्त्तव्य क्या है, इसी जटिल समस्याको लेकर धर्म और नीतिमें इतनी अधिक गड़बड़ियां उत्पन्न हो गयी हैं। भगवान्‌ने कहा है, गहना कर्मणो गतिः, कर्त्तव्य क्या है, अकर्त्तव्य क्या है, कर्म क्या है, अकर्म क्या है, विकर्म क्या है, इसका निर्णय करनेमें ज्ञानी भी विमोहित हो जाते हैं, किन्तु मैं तुम्हें ऐसा ज्ञान दूंगा जिससे तुम्हें अपना गन्तव्य पथ निर्धारित करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी, कर्मजीवन-का लक्ष्य तथा सदा पालन करने योग्य नियमका स्पष्टीकरण एक बातसे ही विशद् रूपमें हो जायगा। यह ज्ञान क्या है, यह लाख बातोंकी एक बात कहां मिलेगी? हमारा विश्वास है कि गीताके अन्तिम अध्यायमें भगवान्‌ने जहां अपने सर्वगुह्यतम परम कर्त्तव्यको बतलानेकी प्रतिज्ञा अर्जुनसे की है, वहीं खोजनेसे यह दुर्लभ, अमूल्य वस्तु हमें प्राप्त हो सकती है। वह सर्वगुह्यतम परम वाणी क्या है?

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इन दो श्लोकोंका अर्थ एक शब्दमें कहा जा सकता है, आत्म-समर्पण। जो जितने परिमाणमें श्रीकृष्णके निकट आत्मसमर्पण कर सकता है, उसके शरीरमें उतने ही परिमाणमें भगवद्दत्त शक्ति आकर परम मंगलमयके प्रसादसे उसे पापमुक्त तथा देवभावापन्न बनाती है। उसी आत्मसमर्पणका वर्णन श्लोकके पहले अर्द्धांशमें किया गया है। तन्मना, तद्भक्त और तद्याजो होना होगा। तन्मना होना होगा अर्थात् सर्वभूतोंमें उनके दर्शन करना होगा, सब समय उनका स्मरण करना होगा, सब कार्यों और सब घटनाओंमें उनकी शक्ति, ज्ञान और प्रेमके खेलको देखते हुए परम आनन्दसे रहना होगा। तद्भक्त अर्थात् उनके ऊपर पूर्ण श्रद्धा और प्रीति रखकर उनके साथ युक्त रहना होगा। तद्याजी अर्थात् छोटे-बड़े सब कर्मोंको श्रीकृष्णके निमित्त यज्ञरूपमें अर्पण करना होगा तथा स्वार्थ और कर्मफलकी आसक्तिका त्याग कर उनके लिये ही कर्त्तव्य कर्म करना होगा। पूर्ण रूपसे आत्मसमर्पण करना मनुष्यके लिये कठिन है, किन्तु थोड़ीसी भी चेष्टा करनेसे स्वयं भगवान् अभय दान करके, गुरु, रक्षक और सुहृद बनकर योगमार्गमें ले चलते हैं। स्वल्प-मप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। उन्होंने कहा है, इस धर्म-का आचरण करना सहज और सुखप्रद है। सचमुचमें बात ऐसी ही है, फिर भी इसका पूर्णरूपेण आचरण करनेसे अनिर्वचनीय

आनंद, शुद्धि और शक्ति प्राप्त होती है। भगवान् कहते हैं, **'मामेवैष्यसि'** अर्थात् मुझे प्राप्त करोगे, मेरे साथ वास करोगे, मेरी प्रकृतिको प्राप्त करोगे। इस बातसे यह प्रकट होता है कि ऐसा करनेसे सादृश्य, सालोक्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्त होगी। जो गुणातीत हो चुके हैं उन्हें भगवान्का सादृश्य प्राप्त हो गया है। उनमें कोई आसक्ति नहीं रहती, फिर भी वे कर्म करते हैं, वे पापमुक्त होकर महाशक्तिके आधार बन जाते हैं और उस शक्तिके सभी कार्योंसे आनंदित होते हैं। सालोक्य भी केवल देहपातके बादकी ब्रह्मलोककी प्राप्ति नहीं है, इस शरीरमें भी सालोक्यकी प्राप्ति होती है। देहयुक्त जीव जब अपने अंतरमें परमेश्वरके साथ क्रीड़ा करता है, मन उनके दिये हुए ज्ञानसे पुलकित होता है, हृदय उनके प्रेमस्पर्शसे आनंदप्लुत होता है, बुद्धि मुहुर्मुहुः उनकी वाणी श्रवण करती है तथा प्रत्येक विचारमें उन्हींकी प्रेरणाको अनुभव करती है तब इसीको मानवशरीरमें भगवान्के साथ सालोक्य प्राप्त करना कहते हैं। सायुज्य भी इसी शरीरमें प्राप्त होता है। गीतामें भगवान्के अंदर निवास करनेकी बात कही गयी है। जब 'सब जीवोंमें वह हैं' यह उपलब्धि स्थायी रूपसे वर्तमान रहती है, हम अपनी इंद्रियोंसे उन्हींके दर्शन करतें, श्रवण करते, घ्राण लेते, आस्वादन करते, स्पर्श करते हैं, जीवको सर्वदा उन्हींमें अंशभावसे निवास करनेका अभ्यास हो जाता है, तब इसी शरीरमें सायुज्यकी प्राप्ति हो जाती है। यह परम गति इस धर्मका पूर्ण आचरण करनेपर प्राप्त होती है। किंतु इस धर्मके अल्प-आचरणसे भी महान्

शक्ति, विमल आनंद, सुखस्पर्श और शुद्धता प्राप्त होती है। यह धर्म विशिष्ट-गुण-संपन्न लोगोंके लिये सृष्ट नहीं हुआ है। भगवान्‌ने कहा है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुरुष, स्त्री, पापयोनि-प्राप्त जीवतक उन्हें इस धर्मद्वारा प्राप्त कर सकते हैं। घोर पापी भी उनकी शरण लेकर थोड़े समयमें ही विशुद्ध हो जाते हैं। अतएव यह धर्म सबके आचरण करने योग्य है। जगन्नाथ-के मंदिरमें जातिका विचार नहीं, फिर भी इसकी परमगति किसी धर्मद्वारा निर्दिष्ट परमावस्थासे कम नहीं है।

संन्यास और त्याग

पिछले प्रबंधमें यह कहा गया है कि गीतोक्त धर्म सबके लिये आचरणीय है, गीतोक्त योगका अधिकार सबको है, फिर भी उस धर्मकी परमावस्था किसी भी धर्मकी परमावस्थाकी अपेक्षा कम नहीं है। गीतोक्त धर्म है निष्काम-कर्मीका धर्म। हमारे देशमें आर्यधर्मके पुनरुत्थानके साथ-साथ एक संन्यासमुखी स्रोत सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। राजयोगके साधकका मन सहज ही गृहकर्म या गृहवाससे संतुष्ट रहना नहीं चाहता, उसके योगाभ्यासके लिये ध्यान, धारणा आदि अत्यंत आयासपूर्ण चेष्टाओंकी आवश्यकता होती है। मनमें थोड़ा-सा विक्षोभ होनेके कारण अथवा वाह्य स्पर्शके कारण ध्यान-धारणाकी स्थिरता विचलित हो जाती है या एकदम नष्ट ही हो जाती है। घरमें इस तरहकी वाधाएं प्रचुर मात्रामें पायी जाती हैं। अतएव जो लोग पूर्वजन्मप्राप्त योगलिप्सा लेकर जन्म ग्रहण करते हैं, उनके लिये तरुण अवस्थामें ही संन्यासकी ओर आकृष्ट होना अत्यंत स्वाभाविक है। जव इस तरहके जन्मसे ही योगलिप्सा रखनेवाले लोगोंकी संख्या अधिक हो जानेके कारण सारे देशमें वह शक्ति संचारित हो जाती है और देशके युवक-संप्रदायमें संन्यासमुखी स्रोत प्रवल रूपमें दिखायी देता है, तव देशके कल्याण-पथका द्वार भी खुल जाता है, और उस कल्याण-मार्गमें आनेवाली

विपत्तियोंकी आशंका भी बढ़ जाती है। कहा जाता है, संन्यास-धर्म श्रेष्ठ धर्म है, किंतु उस धर्मको ग्रहण करनेका अधिकार थोड़ेसे लोगोंको ही होता है। जो लोग विना अधिकारके उस पथमें प्रवेश करते हैं, वे लोग अंतमें थोड़ी दूर जाकर ही, आधे रास्तेमें तामसिक अप्रवृत्तिजनक आनंदके अधीन हो निवृत्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें इहजीवन तो सुखसे कट जाता है, किंतु उससे जगत्का कोई हित साधित नहीं होता और योगके ऊर्ध्वतम सोपानमें आरोहण करना भी दुःसाध्य हो जाता है। हमारे लिये जैसा समय और जैसी अवस्था उपस्थित हुई है उसको देखते हुए हमारा इस समय प्रधान कर्तव्य हो गया है रजः और सत्त्व यानी प्रवृत्ति और ज्ञानको जगाकर, तमका वर्जन करके देशकी सेवा और जगत्की सेवाके लिये अपनी जातिकी आध्यात्मिक शक्ति और नैतिक वलको पुनरुज्जीवित करना। इस जीर्ण-शीर्ण तमःपीड़ित स्वार्थसीमित जातिके गर्भसे ज्ञानी, शक्तिमान् और उदार आर्यजातिको पुनः उत्पन्न करना होगा। इसी उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये आज भारतमें इतने अधिक शक्तिसंपन्न, योगवलप्राप्त जीवोंका जन्म हो रहा है। ये लोग यदि संन्यासकी मोहिनी शक्तिद्वारा आकृष्ट होकर स्वधर्म और ईश्वरप्रदत्त कार्यका त्याग कर दें तो इससे धर्म नष्ट होनेके कारण जातिका भी ध्वंस हो जायगा। युवक-समुदायको यह याद रखना चाहिये कि ब्रह्मचर्याश्रमका समय शिक्षा प्राप्त करने और चरित्र-गठित करनेके लिये निर्दिष्ट किया गया है। इस आश्रमके बादकी अवस्था गृहस्थाश्रम है। जब हम कुलरक्षा और भावी आर्य-

जातिका गठन करके पूर्वपुरुषोंके ऋणसे मुक्त हो जायेंगे, जब सत्-कर्म और धनसंचय करके समाजका ऋण एवं ज्ञान, दया, प्रेम और शक्तिका वितरण कर जगत्का ऋण चुका देंगे, जब भारत-जननीके हितके लिये उदार और महान् कर्म करके जगन्माताको सन्तुष्ट कर लेंगे, तब वानप्रस्थ और संन्यास ग्रहण करना दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता। अगर ऐसा न किया जाय तो फिर धर्म-संकर और अधर्मकी वृद्धि होगी। पूर्वजन्ममें ऋणमुक्त हुए बाल संन्यासियोंकी बात हम नहीं कहते, पर अनधिकारीका संन्यास ग्रहण करना निन्दनीय है। अनुचित वैराग्यकी अधिकता और क्षत्रियोंके स्वधर्मत्यागकी प्रवृत्तिके कारण महान् और उदार बौद्धधर्मने जहां देशका बहुत कुछ हित साधित किया है वहां अनिष्ट भी किया है और अन्तमें भारतसे बाहर भगा दिया गया है। हमें ऐसा दोष नवयुगके नवीन धर्ममें नहीं आने देना चाहिये।

गीतामें श्रीकृष्णने बार-बार अर्जुनको संन्यास लेनेसे क्यों मना किया है? उन्होंने संन्यास-धर्मका गुण स्वीकार किया है, किन्तु विरक्त और कृपापरवश पार्थके बार-बार पूछनेपर भी उन्होंने कर्म-मार्गके अपने आदर्शको वापस नहीं लिया है। अर्जुनने पूछा कि यदि कर्मसे कामनाशून्य योगयुक्त बुद्धि ही श्रेष्ठ है तो फिर आप गुरुजनोंकी हत्याके समान अत्यन्त भीषण कर्ममें मुझे क्यों नियुक्त कर रहे हैं। बहुतोंने अर्जुनके इस प्रश्नको पुनः उठाया है और कोई-कोई व्यक्ति तो श्रीकृष्णको निकृष्ट धर्मोपदेशक और कुपथप्रवर्त्तक कहनेसे भी बाज नहीं आये हैं। इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्णने यह बतलाया है कि संन्याससे त्याग श्रेष्ठ है, स्वेच्छाचार-

की अपेक्षा भगवान्को स्मरण करते हुए निष्कामभावसे अपने धर्म-का पालन करना ही उत्तम है। त्यागका अर्थ है कामनाका त्याग, स्वार्थका त्याग; उस त्यागकी शिक्षाके लिये पर्वत या निर्जन स्थान-में आश्रय लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, कर्मक्षेत्रमें ही, कर्मके द्वारा ही वह शिक्षा मिलती है। कर्म ही योगपथमें अग्रसर होने-का उपाय है। यह विचित्र लीलामय जगत् जीवके आनन्दके लिये सृष्ट हुआ है। भगवान्की यह इच्छा नहीं है कि यह आनन्दमय खेल समाप्त हो जाय। वह जीवको अपना सखा और खेलका साथी वनाकर जगत्में आनन्दका स्रोत वहाना चाहते हैं। वह क्रीड़ाकी सुविधाके लिये हमसे दूर चले गये हैं इसी कारण हम जिस अज्ञान-अन्धकारमें हैं, वह हमें घेरे रहता है। उनके, द्वारा-निर्दिष्ट ऐसे वहुतसे उपाय हैं जिनका अवलम्वन करनेसे मनुष्य अन्धकारसे निकलकर उनका सान्निध्य प्राप्त कर सकता है। जो लोग उनकी लीलासे विरक्त होते या विश्राम लेना चाहते हैं उन-की अभिलाषाको वह पूरी करते हैं। परन्तु जो लोग उन्हींके लिये उन उपायोंका अवलम्वन करते हैं, भगवान् उन लोगोंको इह-लोक और परलोकमें अपने खेलका उपयुक्त साथी वनाते हैं। अर्जुनने श्रीकृष्णके प्रियतम सखा और क्रीड़ाके सहचर होनेके कारण ही गीताकी गूढ़तम शिक्षा प्राप्त की। वह गूढ़तम शिक्षा क्या है, इसे समझानेकी चेष्टा इससे पहले की गयी है। भगवान्ने अर्जुनसे कहा, कर्मसंन्यास जगत्के लिये अनिष्टकर है और त्यागहीन संन्यास केवल विडम्बना मात्र है। संन्याससे जो फल प्राप्त होता है, त्यागसे भी वही फल प्राप्त होता है, अर्थात् अज्ञानसे मुक्ति मिलती

है, समता, शक्ति, आनन्द और श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है। सर्वजनपूजित व्यक्ति जो कुछ करते हैं लोग उसे ही आदर्श मानकर तदनुसार आचरण करते हैं, अतएव तुम यदि कर्मका संन्यास करोगे तो सब लोग उसी पथके पथिक होकर धर्मकी संकरता और अधर्मकी प्रधानताकी सृष्टि करेंगे। तुम कर्मफलकी स्पृहाका त्याग कर मनुष्यके साधारण धर्मका आचरण करो, आदर्शस्वरूप होकर सबको अपने-अपने कर्मपथमें अग्रसर होनेकी प्रेरणा दो, तो फिर तुम मेरा साधर्म्य प्राप्त करोगे और मेरा प्रियतम सुहृद् बनोगे। इसके बाद उन्होंने समझाया है कि कर्मके द्वारा श्रेयमार्गपर आरूढ़ होकर उस मार्गकी अन्तिम अवस्थामें शम अर्थात् सर्वारम्भ-परित्यागका आचरण करना चाहिये। पर यह भी कर्मसंन्यास नहीं है, बल्कि यह है अहंकारका त्याग कर, अत्यन्त आयासपूर्ण राजसिक चेष्टाका त्याग कर, भगवान्‌के साथ युक्त होकर, गुणातीत होकर, उनकी शक्तिद्वारा चालित यन्त्रकी नाईं कर्म करना। उस अवस्थामें जीवको स्थायी रूपसे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि मैं कर्त्ता नहीं हूं, मैं द्रष्टा हूं, मैं भगवान्‌का अंश हूं, मेरे स्वभावरचित इस देहरूप कर्ममय आधारमें भगवान्‌की शक्ति ही लीलाका कार्य कर रही है। जीव साक्षी और भोक्ता है, प्रकृति कर्त्री है, परमेश्वर अनुमन्ता है। यह ज्ञान जिसे प्राप्त हो जाता है वह पुरुष शक्तिके किसी भी कार्यारम्भमें कामनावश सहायता या बाधा देना नहीं चाहता। शक्तिके अधीन होकर उसका शरीर, मन और बुद्धि ईश्वरादिष्ट कर्ममें प्रवृत्त होती है। कुरुक्षेत्रके भीषण हत्याकाण्डके लिये भी यदि भगवान्‌की अनुमति हो और स्वधर्मके

मार्गमें वही आ पड़े तो भी अलिप्तबुद्धि, कामनारहित, ज्ञान-प्राप्त जीवको पाप स्पर्श नहीं करता। परन्तु इस ज्ञान और आदर्शको वहुत थोड़े लोग ही प्राप्त कर सकते हैं, यह साधारण धर्म नहीं हो सकता। तो फिर इस पथके साधारण पथिकका कर्तव्य कर्म क्या है? साधारण मनुष्य भी कुछ अंशमें यह ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि वही यन्त्री हैं और मैं यन्त्र हूं। और उसके लिये यही आदेश है कि वह उसी ज्ञानके बलसे, भगवान्‌को स्मरण करते हुए स्वधर्मका पालन करे।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

स्वधर्म है स्वभावनियत कर्म। कालकी गतिसे स्वभावकी अभिव्यक्ति और परिणति होती है। कालकी गतिसे मनुष्यका जो साधारण स्वभाव गठित होता है, वही स्वभावनियत कर्म है, युग-धर्म है। जातिकी कर्मगतिसे जो जातीय स्वभाव गठित होता है उसी स्वभावद्वारा नियत कर्म जातिका धर्म है। व्यक्तिकी कर्म-गतिसे जो स्वभाव गठित होता है, उसी स्वभावके द्वारा नियत कर्म व्यक्तिका धर्म है। ये नाना प्रकारके धर्म सनातनधर्मके साधारण आदर्शके द्वारा परस्पर संयुक्त और सुश्रृंखलित होते हैं। साधारण धार्मिक व्यक्तिके लिये यही धर्म स्वधर्म है। ब्रह्मचारीकी अवस्था-में, इसी धर्मका पालन करनेके लिये, ज्ञान और शक्तिका संचय किया जाता है, गृहस्थाश्रममें यह धर्म अनुष्ठित होता है, इस धर्म-का पूर्णरूपेण पालन करनेसे वानप्रस्थ या संन्यासका अधिकार प्राप्त होता है। यही धर्मकी सनातन गति है।

माया

हमारे प्राचीन दार्शनिकगण जब जगत्के मूल तत्त्वोंका अनुसंधान करनेमें प्रवृत्त हुए, तब उन्हें इस प्रपंचके मूलमें एक अविनाशी व्यापक वस्तुका अस्तित्व दिखायी पड़ा। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक भी बहुत दिनोंके अनुसंधानके बाद इस निश्चयपर पहुंचे हैं कि बाह्य जगत्में भी यह अविनाशी सर्वव्यापी एकत्व वर्तमान है। उन्होंने यह स्थिर किया है कि आकाश ही भौतिक प्रपंचका मूलतत्त्व है। भारतके प्राचीन दार्शनिक भी कई हजार वर्ष पहले इसी सिद्धांतपर पहुंचे थे कि आकाश ही भौतिक प्रपंचका मूल है, उसीसे अन्य सभी भौतिक अवस्थाएं प्राकृतिक परिणामके द्वारा उद्भूत हुई हैं। पर वे इसी सिद्धांतको अंतिम सिद्धांत मानकर संतुष्ट नहीं हो गये। उन्होंने योगबलसे सूक्ष्म जगत्में प्रवेश किया और उन्हें मालूम हुआ कि स्थूल भौतिक प्रपंचके पीछे एक सूक्ष्म प्रपंच है, इस प्रपंचका मूलगत भौतिक तत्त्व है सूक्ष्म आकाश। और यह आकाश भी अंतिम वस्तु नहीं है। उन्होंने अंतिम वस्तुको प्रधान नामसे अभिहित किया था। प्रकृति या जगन्मयी क्रियाशक्ति अपने सर्वव्यापी स्पंदनसे इस प्रधानकी सृष्टि कर इसीसे करोड़ों अणुओंको उत्पन्न करती है तथा इन्हीं अणुओंके द्वारा सूक्ष्म भूत गठित होते हैं। प्रकृति या क्रियाशक्ति अपने लिये कुछ नहीं करती—वह जिसकी शक्ति है उसीकी तुष्टिके लिये इस प्रपंचकी सृष्टि हुई है और यह नाना-

विध गति है। आत्मा या पुरुष इस प्रकृतिकी क्रीड़ाका अध्यक्ष और साक्षी है। पुरुष और प्रकृति जिसके स्वरूप और क्रिया हैं वही अनिर्वचनीय परब्रह्म जगत्का अविनाशी अद्वितीय मूल सत्य है। मुख्य-मुख्य उपनिषदोंमें आर्य-ऋषियोंके तत्त्वानुसंधानके फलस्वरूप जो-जो सत्य आविष्कृत हुए थे उनके केंद्रके रूपमें यही ब्रह्मवाद और पुरुष-प्रकृतिवाद प्रतिष्ठित है। तत्त्वदर्शियोंने इन्हीं मूल सत्योंको लेकर नाना प्रकारके तर्क और वाद-विवाद करके भिन्न-भिन्न विचारधाराओंकी सृष्टि की। जो लोग ब्रह्मवादी थे, वे वेदांत-दर्शनके प्रवर्त्तक हुए; जो लोग प्रकृतिवादके पक्षपाती थे उन्होंने सांख्यदर्शनका प्रचार किया। इनके अलावा बहुतसे लोग परमाणुको ही भौतिक प्रपंचका मूलतत्त्व मानकर एक स्वतंत्र पथके पथिक हो गये। इस प्रकार नाना मार्गोंके आविष्कृत हो जानेके बाद श्रीकृष्णने गीतामें इन्हीं सब विचारधाराओंका समन्वय और सामंजस्य स्थापित करके व्यासदेवके मुखसे उपनिषदोंके सत्योंको पुनः प्रवर्त्तित किया। पुराणकारोंने भी व्यासदेवद्वारा रचित पुराणोंको आधार बनाकर उन्हीं सत्योंकी नाना प्रकारकी व्याख्या—कहानी और रूपकके बहाने जनसाधारणके निकट उपस्थित की। किंतु इससे विद्वान्-मंडलीका वाद-विवाद बंद नहीं हुआ, वे लोग अपने-अपने मतोंको प्रकट करते हुए दर्शनशास्त्रकी विभिन्न शाखाओंके सिद्धांतोंको तर्कद्वारा विशद् रूपमें प्रतिपादित करने लगे। हमारे षट्दर्शनका आधुनिक स्वरूप इसी पिछली विचारधाराका फल है। अंतमें शंकराचार्यने सारे देशमें वेदांतके प्रचारकी अपूर्व और स्थायी व्यवस्था

करके साधारण लोगोंके हृदयमें वेदांतका आधिपत्य स्थापित कर दिया। इसके बाद और पांचों दर्शन थोड़े-से विद्वानोंके बीच प्रतिष्ठित तो रहे, पर उनका आधिपत्य और प्रभाव, विचार-जगत्से प्रायः तिरोहित हो गया। सर्वजनसम्मत वेदांतदर्शनमें मतभेद उत्पन्न होनेके कारण तीन मुख्य शाखाएं और बहुत-सी गौण शाखाएं स्थापित हो गयीं। ज्ञानप्रधान अद्वैतवाद एवं भक्तिप्रधान विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवादका विरोध अभी भी हिन्दूधर्ममें वर्तमान है। ज्ञानमार्गी, भक्तके उद्दाम प्रेम और भाव-प्रवणताको उन्मादका लक्षण कहकर उड़ा देते हैं; भक्त, ज्ञानमार्गी-की तत्त्वज्ञानस्पृहाको शुष्क तर्क कहकर उसकी उपेक्षा करते हैं। दोनों मत ही भ्रांत और संकीर्ण हैं। भक्तिशून्य तत्त्वज्ञानसे अहंकारकी वृद्धि होनेके कारण मुक्तिका मार्ग बंद हो जाता है, ज्ञानशून्य भक्ति अंध-विश्वास और भ्रमसंकुल तामसिकता उत्पन्न करती है। सच्चे उपनिषत्प्रदर्शित धर्ममार्गमें ज्ञान, भक्ति और कर्मका सामंजस्य सुरक्षित है और ये तीनों परस्पर सहायक होते हैं।

यदि सर्वव्यापी और सर्वजनसम्मत आर्यधर्मका प्रचार करना हो तो उसे सच्चे आर्यज्ञानके ऊपर प्रस्थापित करना होगा। दर्शनशास्त्र सदा ही एकपक्षके प्रतिपादक और अपूर्ण होते हैं। समस्त जगत्को एक संकीर्ण मतानुयायी तर्कके द्वारा सीमाबद्ध करनेकी चेष्टा करनेसे सत्यका एक पहलू तो विशद् रूपसे अवश्य व्याख्यात होता है, किंतु दूसरे पहलूका अपलाप ही होता है। अद्वैतवादियोंका मायावाद इसी प्रकारके अपलापका एक

उदाहरण है। 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है', यही मायावादियोंका मूल मंत्र है। यह मंत्र जिस जातिकी चिंतन-प्रणालीके मूल मंत्रके रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है, उसी जातिमें ज्ञानलिप्सा, वैराग्य और संन्यासप्रियता बढ़ जाती है, रजःशक्ति तिरोहित होती और सत्त्व तथा तमका प्राबल्य हो जाता है और एक ओर तो ज्ञानप्राप्त संन्यासियोंकी, संसारसे विरक्त प्रेमिक भक्तोंऔर शांतिप्रार्थी वैरागियोंकी संख्या बढ़ जाती है और दूसरी ओर तामसिक, अज्ञ, अप्रवृत्तिमुग्ध, अकर्मण्य साधारण प्रजाकी दुर्दशा होती है। भारतमें मायावादके प्रचारसे यही हुआ है। जगत् यदि मिथ्या ही हो तो फिर ज्ञानपिपासाके अतिरिक्त अन्य सभी चेष्टाओंको निरर्थक एवं अनिष्टकर ही कहना पड़ेगा। किंतु मनुष्यके जीवनमें ज्ञान-पिपासाके सिवा और भी बहुत-सी प्रबल और उपयोगी वृत्तियां क्रीड़ा कर रही हैं, उन सबकी उपेक्षा करके कोई भी जाति टिक नहीं सकती। इसी अनर्थके भयसे शंकराचार्यने पारमार्थिक और व्यावहारिक नामसे ज्ञानके दो अंग बताकर अधिकार-भेदसे ज्ञान और कर्मकी व्यवस्था की। परंतु उनके उस युगके क्रियासंकुल कर्म-मार्गका तीव्र प्रतिवाद करनेके कारण उलटा फल हुआ। शंकरके प्रभावसे वह कर्ममार्ग लुप्तप्राय हो गया, वैदिक क्रियाएं तिरोहित हो गयीं, जनसाधारणके मनमें ये तम-प्रवर्तक विचार कि जगत् मायाकी सृष्टि है, कर्म अज्ञानसे उत्पन्न होता है और मुक्तिका विरोधी है, अदृष्ट ही सुख-दुःखका कारण है इत्यादि, ऐसी दृढ़ताके साथ बैठ गये कि रजःशक्तिका फिरसे प्रकट होना ही असंभव हो गया। आर्य-

जातिके रक्षार्थं भगवान्‌ने पुराण और तंत्रका प्रचार कर माया-वादका प्रतिरोध किया। पुराणोंके द्वारा उपनिषद्-प्रसूत आर्य-धर्मके विभिन्न अंगोंकी रक्षा कुछ अंशोंमें हुई, तंत्रने शक्ति-उपासनाद्वारा मुक्ति और भुक्ति-रूपी द्विविध फलकी प्राप्तिके लिये लोगोंको कर्ममें प्रवृत्त कराया। प्रायः सभी लोग, जिन्होंने जाति-रक्षाके लिये युद्ध किया, जैसे, प्रताप सिंह, शिवाजी, प्रतापादित्य, चांदराय इत्यादि शक्तिके उपासक या तांत्रिक योगियोंके शिष्य थे। तमःप्रसूत अनर्थको रोकनेके लिये गीतामें श्रीकृष्णने ऐसा उपदेश दिया है जो कर्मसंन्यासका विरोधी है।

मायावाद सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित है। उपनिषदोंमें भी यह कहा गया है कि ईश्वर परम मायावी हैं, उन्होंने अपनी माया-के द्वारा इस दृश्य जगत्‌की सृष्टि की है। गीतामें भी श्रीकृष्ण-ने कहा है कि त्रैगुण्यमयी माया ही सारे जगत्‌में व्याप्त हो रही है। एक अनिर्वचनीय ब्रह्म ही जगत्‌का मूल सत्य है, समस्त प्रपंच उसकी अभिव्यक्तिमात्र है, स्वयं परिणामशील और नश्वर है। यदि ब्रह्म ही एक सनातन सत्य हो तो फिर भेद और बहुत्व कहांसे उत्पन्न हुआ है, किसके अंदर प्रतिष्ठित है और किस प्रकार उत्पन्न हुआ है—इन प्रश्नोंका उठना अनिवार्य हो जाता है। ब्रह्म ही यदि एकमात्र सत्य हो तो फिर ब्रह्मसे ही भेद और बहुत्वका जन्म हुआ है, ब्रह्ममें ही यह प्रतिष्ठित है और ब्रह्मकी ही किसी अनिर्वचनीय शक्तिसे इसका प्रादुर्भाव हुआ है—यही उपनिषदोंका उत्तर है। उसी शक्तिको कहीं मायावीकी माया, कहीं पुरुष-अधिष्ठित प्रकृति, कहीं ईश्वरकी विद्या-अविद्या-

मयी इच्छाशक्ति कहा गया है। इससे तार्किकोंका मन संतुष्ट नहीं हो सकता। किस प्रकार 'एक' 'बहु' होता है, अभेदसे भेद उत्पन्न होता है, इसकी संतोषजनक व्याख्या नहीं मिलती। अंतमें एक सहज उत्तर उनके मनमें उदय हुआ—'एक' 'बहु' नहीं हो सकता, सनातन अभेदसे भेद नहीं उत्पन्न हो सकता, अतएव 'बहु' मिथ्या है, भेद अलीक है, सनातन अद्वितीय आत्मा-में स्वप्नकी तरह भासनेवाली मायामात्र है, आत्मा ही सत्य है, आत्मा ही सनातन है। पर इससे भी कठिनाई दूर नहीं हुई; यह प्रश्न आ उपस्थित हुआ कि आखिर यह माया क्या है, यह कहांसे उत्पन्न हुई है, किसके अंदर प्रतिष्ठित है और किस प्रकार उत्पन्न हुई है। शंकरने उत्तर दिया कि यह कहा नहीं जा सकता कि माया क्या है, माया अनिर्वचनीय है, माया उत्पन्न नहीं हुई है, माया सदासे है अथच नहीं है। इससे भी समाधान नहीं हुआ, संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। इस तर्कसे एक अद्वितीय ब्रह्ममें और एक सनातन अनिर्वचनीय वस्तु प्रतिष्ठित हो गयी, एकत्वकी रक्षा नहीं हो सकी।

शंकरकी युक्तिसे उपनिषदोंकी युक्ति ही श्रेष्ठ है। उप-निषदोंका कहना है कि भगवान्‌की प्रकृति जगत्‌का मूल है, वही प्रकृति शक्ति है, सच्चिदानंदकी सच्चिदानंदमयी शक्ति है। आत्माके लिये भगवान् परमात्मा हैं और जगत्‌के लिये परमेश्वर हैं। परमेश्वरकी इच्छा शक्तिमयी है, उसी इच्छाके द्वारा एक-से बहु, अभेदसे भेद उत्पन्न होता है। परमार्थकी दृष्टिसे ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, परामाया-प्रसूत है, कारण यह ब्रह्मसे

ही उत्पन्न होता है और ब्रह्ममें ही विलीन होता है। देशकाल-के अंदर ही प्रपंचका अस्तित्व है, ब्रह्मकी देशकालातीत अवस्था-में उसका कोई अस्तित्व नहीं, ब्रह्ममें प्रपंचयुक्त देश-काल है, किंतु ब्रह्म देश-कालके अंदर आवद्ध नहीं है। जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है और ब्रह्ममें ही विद्यमान है, सनातन अनिर्देश्य ब्रह्ममें आद्यन्तविशिष्ट जगत्की स्थिति है, यह वहां ब्रह्मकी विद्या-अविद्या-मयी शक्तिद्वारा सृष्ट होकर विद्यमान है। जिस प्रकार मनुष्य-में प्रकृत सत्यकी उपलब्धि करनेकी शक्तिके अलावा कल्पनाके द्वारा अलीक वस्तुकी उपलब्धि करनेकी शक्ति भी विद्यमान है, उसी प्रकार ब्रह्ममें भी विद्या और अविद्या, सत्य और अनृत वर्त-मान हैं। किंतु अनृत देशकालकी सृष्टि है। जिस प्रकार मनुष्यकी कल्पना देशकालकी गतिसे सत्यमें परिणत होती है, उसी प्रकार जिसे हम अनृत कहते हैं वह सर्वथा अनृत नहीं है, वह सत्यका अननुभूत पहलूमात्र है। वास्तवमें सर्वं सत्यं—सब कुछ सत्य है; देशकालातीत अवस्थामें जगत् मिथ्या है, किंतु हम देशकालातीत नहीं हैं, हम यह कहनेके अधिकारी नहीं हैं कि देशकालके अंदर जगत् मिथ्या है। देश-कालके अंदर जगत् मिथ्या नहीं है, जगत् सत्य है। जब देशकालातीत होकर ब्रह्म-में विलीन होनेका समय आयगा और शक्ति उत्पन्न होगी, तभी हम जगत्को मिथ्या कह सकेंगे, अनधिकारीका ऐसा कहना मिथ्या-चार है और उससे धर्मकी गति विपरीत होती है। हमारे लिये 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है', यह कहनेकी अपेक्षा यह कहना उचित है कि 'ब्रह्म सत्य है, जगत् ब्रह्म है।' यही उपनिषदोंका

उपदेश है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म, इसी सत्यके ऊपर आर्यधर्म प्रतिष्ठित है।

अहंकार

हमारी भाषामें 'अहंकार' शब्दका अर्थ इतना विकृत हो गया है कि आर्य-धर्मके प्रधान-प्रधान तत्त्वोंको समझानेमें कभी-कभी बड़ी गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। गर्व राजसिक अहंकारका एक विशेष परिणाममात्र है, अथच साधारण तौरपर 'अहंकार' शब्दका यही अर्थ समझा जाता है। अहंकारका त्याग करनेकी बात जब कही जाती है तब गर्वका त्याग करने या राजसिक अहंकारका वर्जन करनेकी बात ही मनमें उठती है। वास्तवमें समस्त अहं-ज्ञान ही अहंकार है। अहं-बुद्धि मानवके विज्ञानमय आत्माके अंदर सृष्ट होती है और प्रकृतिके अंतर्गत तीन गुणोंकी क्रियासे उसकी तीन प्रकारकी वृत्तियां विकसित होती हैं और उन्हें सात्त्विक अहंकार, राजसिक अहंकार और तामसिक अहंकार कहते हैं। सात्त्विक अहंकार ज्ञान-प्रधान और सुख-प्रधान होता है। मुझे ज्ञान हो रहा है, मुझे आनंद हो रहा है आदि ये सब भाव सात्त्विक अहंकारकी क्रिया हैं। साधकका अहं, भक्तका अहं, ज्ञानीका अहं, निष्काम-कर्मीका अहं सत्त्वप्रधान, ज्ञानप्रधान, सुखप्रधान होता है। राजसिक अहंकार कर्मप्रधान होता है; मैं कर्म कर रहा हूं, मैं जय प्राप्त कर रहा हूं, पराजित हो रहा हूं, चेष्टा कर रहा हूं, मेरी ही कार्य-सिद्धि हो रही है, मेरी ही असिद्धि हो रही है, मैं बलवान् हूं, मैं सिद्ध हूं,

मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं—ये सब भाव रजःप्रधान, कर्मप्रधान, प्रवृत्तिजनक हैं। तामसिक अहंकार अज्ञता और निश्चेष्टतासे पूर्ण होता है। मैं अधम हूं, मैं निरुपाय हूं, मैं आलसी, अक्षम, हीन हूं, मेरे लिये कोई आशा नहीं, मैं प्रकृतिमें लीन हो रहा हूं, लीन होना ही मेरी गति है—ये सब भाव तमःप्रधान हैं, अ-प्रवृत्ति और अप्रकाशजनक हैं। जो लोग तामसिक अहंकारसे ग्रस्त हैं, उन्हें गर्व नहीं होता, फिर भी उनमें अहंकार पूर्ण मात्रा-में होता है, किंतु वह अहंकार अधोगति, विनाश और शून्य ब्रह्म-की ओर ले जानेवाला होता है। जैसे गर्वका अहंकार होता है वैसे ही नम्रताका भी अहंकार होता है, जैसे बलका अहंकार होता है वैसे ही दुर्बलताका भी अहंकार होता है। जो लोग तामसिक भावके कारण गर्वहीन होते हैं, वे अधम, दुर्बल होते हैं, भय और निराशाके कारण दूसरोंके पैरोंमें लोटा करते हैं। तामसिक नम्रता, तामसिक क्षमा, तामसिक सहिष्णुताका कोई भी मूल्य नहीं है और न उसका कोई सुफल ही होता है। जो सर्वत्र नारायणके दर्शन करते हुए सबके सामने नम्र रहते हैं, सहिष्णु और क्षमावान् होते हैं, उन्हींको पुण्य होता है। जो इन सब अहंकारकी वृत्तियोंका त्याग कर, त्रैगुण्यमयी मायाको अतिक्रम कर जाते हैं उनके लिये गर्व भी नहीं, नम्रता भी नहीं, भगवान्-की जगन्मयी शक्ति उनके मन-प्राण-रूप आधारमें जो भाव देती हैं, उसे ही लेकर वे संतुष्ट रहते हैं, अनासक्त रहते हैं और अटल शांति तथा आनंदमें डूबे रहते हैं। तामसिक अहंकार सर्वथा वर्जनीय है। राजसिक अहंकारको जगाकर, सत्त्वप्रसूत ज्ञानकी सहा-

यतासे उसे निर्मूल करना ही उन्नतिका प्रथम सोपान है। राज-सिक अहंकारके हाथसे मुक्ति पानेका उपाय है ज्ञान, श्रद्धा और भक्तिका विकास करना। सत्त्वप्रधान व्यक्ति यह नहीं कहते कि मैं सुखी हूं; वे कहते हैं मेरे प्राणोंमें सुखका विकास हो रहा है; वे यह नहीं कहते कि मैं ज्ञानी हूं, वे कहते हैं, मुझमें ज्ञानका संचार हो रहा है। वे जानते हैं कि वह सुख और वह ज्ञान उन-का नहीं है, जगन्माताका है। फिर भी सब प्रकारके अनुभवके साथ जब आनन्दोपभोगके लिये आसक्ति रहती है तब उसी ज्ञानी या भक्तका भाव अहंकारमय हो जाता है। जब यह कहा जाता है कि 'मेरा हो रहा है', तब यही समझना चाहिये कि अहंबुद्धिका त्याग नहीं हुआ है। गुणातीत व्यक्ति ही पूर्ण रूपसे अहंकारको जीत सकता है। वह जानता है कि जीव साक्षी और भोक्ता है, पुरुषोत्तम अनुमन्ता है और प्रकृति कर्त्री है, इसके अन्दर 'मैं' नहीं हूं। सब कुछ एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्मकी विद्या-अविद्यामयी शक्ति-की लीला है। अहंज्ञान जीव-अधिष्ठित प्रकृतिके अन्दर मायासे उत्पन्न एक भाव मात्र है। इस अहंज्ञानरहित भावकी अन्तिम अवस्था है सच्चिदानन्दमें लय हो जाना। किंतु जो गुणातीत होकर भी पुरुषोत्तमकी इच्छासे लीलाके अन्दर रहते हैं, वे पुरुषोत्तम और जीवके स्वतन्त्र अस्तित्वकी रक्षा करते हुए अपनेको प्रकृतिविशिष्ट भगवदंश समझकर लीलाकार्यको सम्पन्न करते हैं। इस भावको अहंकार नहीं कह सकते। यह भाव परमेश्वरमें भी होता है, उनमें अज्ञान या आसक्ति नहीं है, किंतु उनकी आनन्दमय अवस्था आत्मस्थ न हो जगन्मुखी होती

है। जिसे यह भाव है, वही जीवन्मुक्त है। लयरूप मुक्ति देहपात होनेपर प्राप्त की जाती है, किंतु जीवन्मुक्तकी स्थिति देह रहते ही अनुभूत होती है।

निवृत्ति

हमारे देशमें मनीषीगण कभी धर्मकी ऐसी व्याख्या नहीं ग्रहण करते थे जो संकीर्ण और जीवनके महत् कर्मकी विरोधिनी हो। हिन्दुओंके ज्ञान और उनकी शिक्षाके मूलमें यह महान् और गभीर तत्त्व निहित था कि सारा जीवन ही धर्मक्षेत्र है। आज हमारा ज्ञान और हमारी शिक्षा पाश्चात्य शिक्षाके स्पर्शसे कलुषित होकर विकृत और अस्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त हुई है। हम प्रायः ही इस भ्रान्त धारणाका पोषण करते हैं कि संन्यास, भक्ति और सात्त्विक भावके सिवा और कुछ भी धर्मका अंग नहीं हो सकता। पश्चिमके लोग इसी संकीर्ण धारणाको मनमें रखकर धर्मकी आलोचना करते हैं। हिन्दू अपने जीवनके सभी कार्योंको धर्म और अधर्म—इन दो भागोंमें ही विभक्त किया करते थे, पाश्चात्य देशोंमें धर्म, अधर्म और धर्माधर्मसे बाहरकी जो जीवनकी अधिकांश क्रियाएं और वृत्तियां हैं उनका अनुशीलन—इस प्रकार तीन भाग किये जाते हैं। वहां भगवान्की प्रशंसा, प्रार्थना, संकीर्तन करने तथा गिरजाघरमें जाकर पादरियोंकी वक्तृता सुननेको धर्म या religion कहते हैं, morality या सत्कर्म करना वहां धर्मका अंग नहीं माना जाता, वह एक अलग ही चीज है, अवश्य ही बहुतसे लोग religion और morality दोनोंको धर्मका गौण अंग मानते हैं। गिरजामें न जाना, नास्तिकवाद या संशयवाद तथा religion

की निन्दा करना या उसके विषयमें उदासीन रहना वहां अधर्म (irreligion) माना जाता है, कुकार्यको immorality कहा जाता है और पूर्वोक्त मतानुसार वह भी अधर्मका अंग है। किंतु अधिकांश कर्म और वृत्तियां धर्माधर्मसे वाहरकी चीजें हैं। religion और life, धर्म और कर्म एक-दूसरेसे स्वतन्त्र चीजें हैं। हम लोगोंमें भी वहुतसे लोग इसी तरह 'धर्म' शब्दका विकृत अर्थ करते हैं। साधु-संन्यासीकी बात, भगवान्की वात, देवी-देवताओंकी बात, संसारत्यागीकी बातको वे लोग 'धर्म' नामसे अभिहित करते हैं, परंतु और कोई प्रसंग उत्थापित करनेपर वे लोग कहते हैं कि यह संसारकी वात है, धर्मकी वात नहीं। उन लोगोंके मनमें पाश्चात्य religion शब्दका भाव वैठा हुआ है, 'धर्म' शब्दको सुनते ही religion की वात उनके मनमें उदय हो जाती है, अपने अनजानमें भी उसी अर्थमें वे 'धर्म' शब्दका व्यवहार करते हैं। किंतु अपनी स्वदेशी वातके अन्दर इस प्रकारका विदेशी भाव ले आनेसे हम उदार और सनातन आर्यभाव और आर्यशिक्षासे भ्रष्ट हो जाते हैं। सारा जीवन ही धर्मक्षेत्र है, संसार भी धर्म है। केवल आध्यात्मिक ज्ञानकी आलोचना करना और भक्ति-भाव ही धर्म नहीं है, कर्म भी धर्म है। यही महती शिक्षा हमारे समस्त साहित्यमें सनातन कालसे व्याप्त हो रही है—एष धर्मः सनातनः।

वहुतसे लोगोंकी यह धारणा है कि कर्म धर्मका अंग तो है, किंतु सब प्रकारके कर्म धर्मका अंग नहीं कहे जा सकते; जो कर्म सात्त्विकभावापन्न होते हैं, निवृत्तिके अनुकूल होते हैं केवल वे ही

इस नामके योग्य होते हैं। यह भी एक भ्रान्त धारणा है। जैसे सात्त्विक कर्म धर्म हैं वैसे ही राजसिक कर्म भी धर्म हैं। जैसे जीवके ऊपर दया करना धर्म है वैसे ही धर्मयुद्धमें देशके शत्रुको मार डालना भी धर्म है। जैसे परोपकारके लिये अपने सुख, धन और प्राणतकको तिलांजलि देना धर्म है वैसे ही धर्मके साधन शरीरकी उचित रूपसे रक्षा करना भी धर्म है। राजनीति भी धर्म है, काव्यरचना भी धर्म है, चित्रांकन भी धर्म है, मधुर गानके द्वारा दूसरोंका मनोरंजन करना भी धर्म है। जिसमें अपना स्वार्थ नहीं है वही धर्म है, चाहे वह कर्म बड़ा हो या छोटा। छोटे-बड़ेका हिसाब करके हम लोग देखते हैं, भगवान्‌के लिये छोटा-बड़ा कुछ नहीं है, वह तो बस इसी ओर ध्यान रखते हैं कि मनुष्य अपने स्वभावके अनुसार या अदृष्टद्वारा प्राप्त कर्मको किस प्रकार सम्पादित करता है। उच्च धर्म, श्रेष्ठ धर्म यही है कि चाहे हम कोई भी कार्य क्यों न करें उसे उन्हींके चरणोंमें अर्पण करें, यज्ञके रूपमें करें, उन्हींकी प्रकृतिद्वारा किया हुआ मानकर उसे समभावसे स्वीकार करें।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

अर्थात् जो कुछ हम देखते हैं, जो कुछ करते हैं, जो कुछ सोचते हैं वह सब उनके अन्दर देखना है, उनके चिन्तनसे मानो वस्त्रकी तरह आच्छादित करना ही है श्रेष्ठ पथ, उस आवरणको भेदनेमें पाप और अधर्म असमर्थ होते हैं। अपने मनसे सभी कर्मों-

की वासना और आसक्तिको निकालकर, कोई कामना न रख कर्म-के स्रोतमें जो कुछ मिल जाय उसीका भोग करना, सभी कर्मोंको करना, देहकी रक्षा करना, यही भगवान्‌का प्रिय आचरण है तथा श्रेष्ठ धर्म है। यही वास्तविक निवृत्ति है। बुद्धि ही निवृत्तिका स्थान है, प्राण और इन्द्रियां प्रवृत्तिके क्षेत्र हैं। बुद्धि प्रवृत्तिद्वारा स्पृष्ट होती है और इसी कारण सारा गोलमाल होता है। बुद्धि निर्लिप्त रहती हुई साक्षी और भगवान्‌का prophet या spokes-man (संदेशवाहक या प्रतिनिधि) बनकर रहेगी, निष्काम होकर भगवान्‌द्वारा अनुमोदित प्रेरणाको प्राण और इन्द्रियोंतक पहुंचा देगी; प्राण और इन्द्रियां तदनुसार अपना-अपना कार्य करेंगी। कर्मत्याग अत्यन्त क्षुद्र चीज है, कामनाका त्याग ही प्रकृत त्याग है। शरीर-की निवृत्ति निवृत्ति नहीं है, निर्लिप्तता ही सच्ची निवृत्ति है।

उपनिषद्

हमारा धर्म अत्यंत विशाल और नाना शाखा-प्रशाखाओंसे सुशोभित है। उसका मूल गभीरतम ज्ञानपर आरूढ़ है और उसकी शाखाएं कर्मके अत्यंत दूरस्थित प्रांतोंतक फैली हुई हैं। जिस तरह गीताका अश्वत्थ वृक्ष ऊर्ध्वमूल: और अध:शाख: है, उसी तरह यह धर्म ज्ञानप्रतिष्ठित और कर्मप्रेरक है। निवृत्ति उसकी नींव है, प्रवृत्ति उसका घर, छत और दीवाल है तथा मुक्ति उसका शिखर है। मानवजातिका समस्त जीवन इस विशाल हिन्दूधर्म-रूपी वृक्षपर आश्रित है।

सभी लोग कहते हैं कि वेद हिन्दूधर्मका आधार हैं, किंतु थोड़ेसे लोग ही उस आधारके स्वरूप और मर्मसे अवगत होते ह; प्राय: ही हम शाखाके अग्रभागमें बैठकर दो-एक सुस्वादु नश्वर फल चखकर मत्त हो जाते हैं, मूलकी कोई खोज-खबर नहीं रखते। हमने अवश्य ही सुना है कि वेदके दो भाग हैं—कर्म-कांड और ज्ञानकांड; किंतु हम यह नहीं जानते कि सच्चा कर्म-कांड क्या है या ज्ञानकांड क्या है। हमने भले ही मोक्षमूलर-कृत ऋग्वेदकी व्याख्या पढ़ ली हो या रमेशचन्द्र दत्तका बंगला अनुवाद पढ़ लिया हो, पर हम यह नहीं जानते कि ऋग्वेद क्या है। मोक्षमूलर और दत्त महोदयसे हमें यह ज्ञान मिला है कि ऋग्वेदके ऋषि प्रकृतिके बाह्य पदार्थों या भूतमात्रकी पूजा किया

करते थे, सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि इत्यादिके स्तव-स्तोत्र ही सनातन हिन्दूधर्मका वह अनाद्यनन्त अपौरुषेय मूल ज्ञान हैं। हम इसी बातपर विश्वास कर वेदोंका, ऋषियोंका और हिंदूधर्मका अपमान करते हैं और यह समझते हैं कि हम बड़े ही विद्वान् हैं, बड़े 'आलोकप्राप्त' हैं। हम इस बातका बिलकुल अनुसंधान नहीं करते कि असली वेदमें वास्तवमें क्या है, और क्या कारण है कि शंकराचार्य प्रभृति महाज्ञानी और महापुरुष इन स्तव-स्तोत्रोंको अनाद्यनन्त संपूर्ण अभ्रांत ज्ञान माना करते थे।

फिर उपनिषद् ही क्या है—इस बातको भी बहुत थोड़ेसे लोग ही जानते हैं। जब हम उपनिषदोंकी चर्चा करते हैं तब हम प्रायः ही शंकराचार्यके अद्वैतवाद, रामानुजके विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वके द्वैतवाद इत्यादि दार्शनिक व्याख्याओंकी ओर अपनी दृष्टि आवद्ध रखते हैं। असली उपनिषदोंमें क्या लिखा है, उसका सच्चा अर्थ क्या है, क्यों परस्परविरोधी षड्दर्शन इस एक ही मूलसे उत्पन्न हुए हैं, षड्दर्शनके अतिरिक्त कोई निगूढ़ अर्थ इस ज्ञानभांडारमें प्राप्त हो सकता है या नहीं—इन सब बातोंपर हम विचार भी नहीं करते। शंकरने जो अर्थ किया था उसे ही हम हजारों वर्षोंसे स्वीकार करते आ रहे हैं, शंकरकी व्याख्या ही हमारा वेद है, हमारी उपनिषद् है; कष्ट उठाकर भला असली उपनिषदोंको कौन पढ़े? अगर पढ़ें भी तो शंकरकी व्याख्याका विरोध करनेवाली कोई व्याख्या देखते ही हम उसे भूल समझकर उसका त्याग कर देते हैं। अथच उपनिषदोंके अंदर केवल शंकरलब्ध ज्ञान ही नहीं है, वर्तमान, भूत और भविष्यमें जो

आंध्यात्मिक ज्ञान या तत्त्वज्ञान प्राप्त हुए हैं या होंगे उन सवको आर्य ऋषियों और महायोगियोंने अत्यंत संक्षिप्त रूपमें निगूढ़ अर्थप्रकाशक श्लोकोंके अंदर निहित कर रखा है।

उपनिषद् क्या है? जिस अनाद्यनन्त गभीरतम सनातन ज्ञानके ऊपर सनातनधर्म प्रतिष्ठित है, उसी ज्ञानका भांडार उपनिषदें हैं। चारों वेदोंके सूक्तोंमें वह ज्ञान पाया जाता है, किंतु वहां वह उपमाके द्वारा, स्तोत्रोंके वाहरी अर्थके द्वारा ढका हुआ है, ठीक वैसे ही जैसे दर्पणमें मनुष्यकी प्रतिमूर्ति छिपी रहती है। उपनिषदें अनाच्छन्न परम ज्ञान हैं, असली मनुष्यके अनावृत अवयव हैं। ऋग्वेदके वक्ता ऋषियोंने ईश्वरीय प्रेरणासे आध्यात्मिक ज्ञान शब्दों और छंदोंमें प्रकट किया था, उपनिषदोंके ऋषियोंने उसी ज्ञानका स्वरूप देखकर थोड़े और गंभीर शब्दोंमें उसी ज्ञानको व्यक्त किया था। अद्वैतवाद इत्यादि ही क्यों, उसके वाद जितने भी दार्शनिक विचार और वाद भारतमें, यूरोपमें, एशियामें सृष्ट हुए हैं—Nominalism, Realism, शून्यवाद, डारविनियन क्रमविकास, कोंतेका Positivism, हेगेल, कांट, स्पिनोजा, शोपेनहार, Utilitarianism, Hedonism —इन सबको उपनिषद्के ऋषियोंने अपने साक्षात् दर्शनके द्वारा देखा तथा व्यक्त किया था। परंतु अन्यत्र जिसे हम खंड-रूपमें देखते हैं, जो सत्यका अंश मात्र होनेपर भी पूर्ण सत्यके रूपमें प्रचारित हुआ है, सत्य-मिथ्या मिलाकर विकृत रूपमें वर्णित हुआ है, वह उपनिषदोंमें पूर्ण रूपमें, अपने प्रकृत संबंधमें आवद्ध होकर, शुद्ध और अभ्रांत रूपमें लिपिबद्ध हुआ है। अतएव शंकरकी

व्याख्यासे या और किसीकी भी व्याख्यासे सीमित न हो उपनिषदोंके वास्तविक, गभीर और अखंड अर्थको ग्रहण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

'उपनिषद्' शब्दका अर्थ है गूढ़ स्थानमें प्रवेश करना। ऋषियोंने तर्कके बलपर, विद्याका प्रसार करके, प्रेरणाके स्रोतमें प्रवाहित होकर उपनिषदुक्त ज्ञानको नहीं प्राप्त किया था, वल्कि मनकी जिस निभृत कोठरीके गुप्त स्थानमें सम्यक् ज्ञानकी चाभी लटक रही है, योगके द्वारा अधिकारी होकर, उसी कोठरीमें प्रवेश कर उन्होंने उस चाभीको प्राप्त किया था तथा वे अभ्रांत ज्ञानके विशाल राज्यके राजा हुए थे। वह चाभी हस्तगत हुए बिना उपनिषदोंका यथार्थ अर्थ नहीं खुलता। केवल तर्कके बलपर उपनिषदोंका अर्थ करना और घने जंगलमें ऊंचे-ऊंचे वृक्षोंकी जड़को मोमबत्तीके प्रकाशमें निरीक्षण करना एक ही बात है। साक्षात् दर्शन ही वह सूर्यालोक है जिसके द्वारा सारा अरण्य आलोकित होता है और अन्वेषणकारीकी दृष्टिके सामने प्रकट हो जाता है। साक्षात् दर्शन योगके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

पुराण

पिछले प्रबंधमें मैंने उपनिषदोंकी बात लिखी है तथा उपनिषदोंका प्रकृत और पूर्ण अर्थ समझनेकी प्रणाली बतलायी है। जिस तरह उपनिषदें हिंदूधर्मका प्रमाण हैं उसी तरह पुराण भी प्रमाण हैं; जिस तरह श्रुति प्रमाण है उसी तरह स्मृति भी प्रमाण है, अवश्य ही दोनों एक ही श्रेणीके प्रमाण नहीं हैं। श्रुति और प्रत्यक्ष प्रमाणके साथ यदि स्मृतिका विरोध हो तो स्मृतिका प्रमाण ग्रहणीय नहीं। जो कुछ योगसिद्ध दिव्यचक्षुप्राप्त ऋषियोंने प्रत्यक्ष दर्शन किया है, जो कुछ अंतर्यामी जगद्गुरुने उनकी विशुद्ध बुद्धिको श्रवण कराया है, वही श्रुति है। जो कुछ प्राचीन ज्ञान और विद्या है, जो कुछ पुरुषपरंपराद्वारा रक्षित होता आया है, वही स्मृति है। शेषोक्त ज्ञान बहुतोंके मुंहसे, बहुतोंके मनमें परिवर्तित और विकृत भी होता हुआ आ सकता है। अवस्था-भेदके अनुसार नया-नया मत और आवश्यकतानुसार नया-नया रूप धारण करता हुआ आ सकता है। अतएव स्मृतिको श्रुतिकी तरह अभ्रांत नहीं कहा जा सकता। स्मृति अपौरुषेय नहीं है, यह मनुष्यकी सीमाबद्ध परिवर्तनशील मत और बुद्धिकी सृष्टि है।

पुराण ही स्मृतिके अंदर प्रधान हैं। उपनिषदोंके आध्यात्मिक तत्त्वको पुराणोंमें उपन्यास और रूपकके आकारमें परिणत

किया गया है, उनमें भारतका इतिहास, हिन्दूधर्मकी उत्तरोत्तर वृद्धि और अभिव्यक्ति, प्राचीन सामाजिक अवस्था, आचार-विचार, पूजा-पाठ, योगसाधना, चिन्तनप्रणाली आदि अनेक आवश्यक बातें पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी पुराणकार या तो सिद्ध थे या साधक; उन्होंने अपने ज्ञान और साधनाद्वारा प्राप्त उपलब्धि-को अपने रचे हुए पुराणमें लिपिबद्ध कर रखा है। वेद और उप-निषद् हिन्दूधर्मके मूल ग्रंथ हैं, पुराण उन्हीं ग्रंथोंकी व्याख्याएं हैं। व्याख्या कभी मूल ग्रंथके समान नहीं हो सकती। तुम जो व्याख्या करो वही व्याख्या मैं नहीं भी कर सकता, पर मूल ग्रंथको परिवर्तित करने या अग्राह्य करनेका अधिकार किसीको भी नहीं है। जो वेद और उपनिषद्के साथ नहीं मिलता वह हिन्दूधर्मके अंगके रूपमें नहीं गृहीत हो सकता, परन्तु पुराणोंके साथ मेल न होनेपर भी नया विचार गृहीत हो सकता है। व्याख्याका मूल्य व्याख्याकारकी मेधाशक्ति, ज्ञान और विद्याके ऊपर निर्भर करता है। जैसे, व्यासदेवद्वारा रचित पुराण यदि विद्यमान रहता तो उसका आदर प्रायः श्रुतिके समान होता; उसके अभावमें और लोमहर्षणरचित पुराणके अभावमें जो अष्टादश पुराण विद्यमान हैं उनमेंसे सबका एक समान आदर न कर विष्णु और भागवत पुराण-जैसी योगसिद्ध व्यक्तिकी रचनाको अधिक मूल्यवान् कहना होगा, मार्कण्डेय पुराण-जैसी एक अध्यात्म-विद्यापरायण पण्डित लेखक-की रचनाको शिव और अग्निपुराणकी अपेक्षा अधिक गभीर, ज्ञान-पूर्ण मानना होगा। तो भी जब व्यासदेवका पुराण आधुनिक पुराणोंका आदि-ग्रंथ है तब इनमें जो निकृष्ट हैं उनमें भी हिन्दू-

धर्मके तत्त्वको प्रकट करनेवाली अनेक बातें निश्चय ही वर्तमान हैं, और जब निकृष्ट पुराण भी जिज्ञासु या भक्त योगाभ्यासरत साधकका लिखा हुआ है तब रचयिताका स्वप्रयास-लब्ध ज्ञान और विचार भी आदरणीय है।

वेद और उपनिषद्से पुराणको अलग कर अंग्रेजी-शिक्षाप्राप्त लोग जो वैदिक धर्म और पौराणिक धर्मके नामसे मिथ्या भेद करते हैं, वह भ्रम है और अज्ञानसंभूत है। वेद और उपनिषद्के ज्ञानको ही पुराण सर्वसाधारणको समझाते हैं, उसकी व्याख्या करते हैं, विस्तारके साथ उसकी आलोचना करते हैं, उसे जीवनके सामान्य-सामान्य कार्योंमें लगानेकी चेष्टा करते हैं और इस कारण वे हिन्दू-धर्मके प्रमाण-ग्रंथोंमें गिने जाते हैं। जो लोग वेद और उपनिषद्को भूलकर पुराणको स्वतंत्र और यथेष्ट प्रमाण मानते हैं वे भी भ्रान्त हैं। इससे हिन्दू-धर्मका अभ्रान्त और अपौरुषेय मूल ही छूट जाता है और भ्रम तथा मिथ्या ज्ञानको प्रश्रय मिलता है, वेदका अर्थ लुप्त होता है, पुराणका यथार्थ अर्थ भी लुप्त होता है। वेदके ऊपर पुराणको प्रतिष्ठित कर पुराणका उपयोग करना चाहिये।

प्राकाम्य

(१)

जब लोग अष्टसिद्धियोंकी बातें करते हैं तब उनका मतलब प्राय: कतिपय अलौकिक योगप्राप्त अपूर्व शक्तियोंसे ही होता है। अवश्य ही अष्टसिद्धियोंका पूरा-पूरा विकास योगीमें ही होता है; किन्तु ये शक्तियां प्रकृतिके साधारण नियमके बाहरकी चीजें नहीं हैं, बल्कि हम जिसे प्रकृतिका नियम कहते हैं उसीके अन्तर्गत ये अष्टसिद्धियां भी हैं।

अष्टसिद्धियोंके नाम हैं---महिमा, लघिमा, अणिमा, प्राकाम्य, व्याप्ति, ऐश्वर्य, वशित्व, ईशित्व। ये सब परमेश्वरकी आठ स्वभावसिद्ध शक्तियां मानी जाती हैं। प्राकाम्यकी बात लें---प्राकाम्यका अर्थ है सभी इन्द्रियोंका पूर्ण विकास और उनकी अबाध क्रिया। वास्तवमें पंच ज्ञानेन्द्रिय और मनकी सारी क्रियाएं प्राकाम्यके अन्तर्गत हैं। प्राकाम्यके बल हम आंखोंसे देखते हैं, कानोंसे सुनते हैं, नाकसे गंध लेते हैं, त्वचासे स्पर्शका अनुभव करते हैं, रसनासे रसास्वादन करते हैं और मनसे सारे बाह्य स्पर्शोंको ग्रहण करते हैं। साधारण मनुष्य यह समझते हैं कि स्थूल इन्द्रियोंमें ही ज्ञान धारण करनेकी शक्ति है, पर तत्त्वविद् यह जानते हैं कि आंखें नहीं देखतीं, मन ही देखता है; कान नहीं सुनते, मन ही सुनता है; नाक नहीं गंध लेती, मन ही गंध लेता है। और जो लोग और भी

बड़े तत्त्वज्ञानी होते हैं वे यह जानते हैं कि मन भी नहीं देखता, न सुनता, न घ्राण लेता है, वल्कि जीव ही देखता है, सुनता है, आघ्राण लेता है। जीव ही ज्ञाता है। जीव ईश्वर है, भगवान्-का अंश है। भगवान्की अष्टसिद्धियां ही जीवकी भी अष्टसिद्धियां हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥

मेरा सनातन अंश जीवलोकमें जीव होकर प्रकृतिके अन्दर मन और पंच इन्द्रियोंको पाकर आकर्षण करता है (अपने कार्यमें उप-योग करता है और भोगके लिये आयत्त करता है)। जव जीव-रूप ईश्वर शरीरमें आता है अथवा शरीरसे वाहर निकल जाता है तव जिस तरह वायु गन्धको पुष्प आदिसे लेकर चली जाती है उसी तरह वह भी शरीरसे इन्द्रियोंको लेकर चला जाता है। कान, आंख, त्वचा, रसना, घ्राण और मनमें अधिष्ठित होकर यह ईश्वर विषयोंका भोग करता है। दृष्टि, श्रवण, आघ्राण, आस्वादन, स्पर्श, मननादि प्राकाम्यकी क्रियाएं हैं। भगवान्का सनातन अंश जीव इस प्रकृतिकी क्रियाके द्वारा प्रकृतिके विकारसे पंचेन्द्रिय और

मनका सूक्ष्म शरीरमें विकास करता है, स्थूल शरीर प्राप्त करनेके समय इन षडिन्द्रियको लेकर प्रवेश करता है, मृत्युके समय इन्हीं षडिन्द्रियको लेकर वाहर निकल जाता है। चाहे सूक्ष्म देहमें हो या स्थूल देहमें, वह इन्हीं षडिन्द्रियमें अधिष्ठान कर विषयोंका उपभोग करता है।

कारण-देहमें पूर्ण रूपमें प्राकाम्य-सिद्धि रहती है, वही शक्ति सूक्ष्म देहमें विकसित होती और अन्तमें स्थूल देहमें प्रकट होती है। किंतु आरम्भसे ही वह स्थूल देहमें पूर्णरूपेण प्रकट नहीं होती, जगत्के क्रमविकासके साथ-साथ इन्द्रियां भी क्रमशः विकसित होती हैं और अन्तमें ये कुछ पशुओंके अन्दर मनुष्यके उपयोगके योग्य विकास और प्राखर्यको प्राप्त होती हैं। मनुष्यमें आकर पंचेन्द्रिय कुछ निस्तेज हो जाती हैं, क्योंकि मन और बुद्धिका विकास होनेके कारण हम अधिक शक्तिका प्रयोग करते हैं। परंतु यह असम्पूर्ण अभिव्यक्ति ही प्राकाम्यके विकासकी अन्तिम अवस्था नहीं है। योगके द्वारा सूक्ष्म देहमें प्राकाम्यका जितना विकास होता है उतना स्थूल देहमें भी होता है। इसीको योगप्राप्त प्राकाम्य-सिद्धि कहते हैं।

(२)

परमेश्वर अनन्त हैं और उनका पराक्रम अव्याहत है; उनकी स्वभावसिद्ध शक्तिका भी क्षेत्र अनंत है और उसकी क्रिया अव्याहत है। जीव ईश्वर है, भगवान्का अंश है, वह सूक्ष्म देह और स्थूल देहमें आवद्ध होकर क्रमशः ईश्वरीय शक्तिका विकास कर रहा है। स्थूल शरीरकी इन्द्रियां विशेषतः सीमावद्ध होती हैं,

मनुष्य जबतक स्थूल देहकी शक्तिद्वारा आबद्ध रहता है तबतक वह बुद्धिके विकासमें ही पशुकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, अन्यथा इन्द्रियोंके प्राखर्यमें तथा मनकी अभ्रान्त क्रियामें—एक शब्दमें कहें तो, प्राकाम्यसिद्धिमें—पशु ही उत्कृष्ट है। विज्ञानविद् जिसे instinct (सहजप्रेरणा) कहते हैं वह यही प्राकाम्य है। पशुके अन्दर बुद्धि-का अत्यन्त अल्प विकास हुआ है, अतएव इस जगत्में यदि सुरक्षित रहना हो तो फिर किसी ऐसी वृत्तिकी आवश्यकता होगी जो पथ-प्रदर्शिका होकर सभी कार्योंमें यह दिखा दे कि क्या करना चाहिये और क्या छोड़ देना चाहिये। पशुका मन ही यह कार्य करता है। मनुष्यका मन कुछ निर्णय नहीं करता, बुद्धि ही निश्चयात्मिका होती है, बुद्धि ही निर्णय करती है, मन केवल संस्कार उत्पन्न करनेवाला यंत्र होता है। हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, अनुभव करते हैं वह मनमें संस्कारके रूपमें परिणत होता है, बुद्धि उन्हीं संस्कारों-को ग्रहण करती है, प्रत्याख्यान करती है, उन्हें लेकर विचारोंकी सृष्टि करती है। पशुकी बुद्धि इस निर्णय-क्रियामें असमर्थ होती है; बुद्धिके द्वारा नहीं, प्रत्युत मनके द्वारा पशु समझता है, विचार करता है। मनमें एक अद्भुत शक्ति है, दूसरोंके मनमें जो कुछ हो रहा है उसे वह एक क्षणमें जान जाता है, बिना विचारे ही जो आवश्यक है उसे समझ जाता है और कर्मकी उपयुक्त प्रणाली-को निश्चित करता है। हम किसीको घरमें प्रवेश करते हुए नहीं देखते, फिर भी हम यह समझते हैं जैसे कोई घरमें छिपकर बैठा हुआ है; भयका कोई कारण नहीं, फिर भी सशंक हुए रहते हैं, न मालूम कहां मानो कोई भयका कारण मौजूद रहता है; मित्रने

एक वात भी नहीं कही, पर उसके बोलनेसे पहले ही हम यह समझ गये कि वह क्या कहेगा, इत्यादि वहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। यह सव मनकी शक्ति है, एकादश इन्द्रियकी स्वाभाविक अवाध क्रिया है। परन्तु वुद्धिकी सहायतासे सभी कार्य करनेका अभ्यास हम इतना हो गया है कि यह क्रिया, यह प्राकाम्य-शक्ति हमारे अन्दरसे प्रायः लुप्त हो गयी है। पशु यदि इस प्राकाम्यका आश्रय न ग्रहण करे तो वह दो दिनमें ही मर जायगा। क्या पथ्य है, क्या अपथ्य है, कौन मित्र है, कौन शत्रु है, कहां भय है, कहां निरापद है—यह सव ज्ञान प्राकाम्यशक्ति ही पशुको देती है। इसी प्राकाम्यके द्वारा कुत्ता अपने मालिककी भाषा न समझनेपर भी उसकी वातका अर्थ या मनका भाव समझ जाता है। इसी प्राकाम्यके द्वारा घोड़ा जिस पथसे एक वार जाता है उस पथको पहचान रखता है। यह सव प्राकाम्यक्रिया मनकी है। परन्तु पंचेन्द्रियकी शक्तिमें भी पशु मनुष्यको हरा देता है। भला कौन मनुष्य कुत्तेकी तरह केवल गन्धका अनुसरण कर एक सौ मीलतक अन्य सवके पथका त्याग कर एक विशिष्ट जन्तुके पीछे-पीछे विना भूले-भटके जानेमें समर्थ हो सकता है? अथवा पशुकी तरह अंधकारमें देख सकता है? अथवा केवल श्रवणके द्वारा गुप्त शब्द-कारीको ढूंढ़ सकता है? टेलीपैथी (Telepathy) या दूरसे विचार ग्रहण करनेकी सिद्धिकी वात कहते हुए किसी एक अंगरेजी समाचारपत्रने लिखा है कि टेलीपैथी मनकी प्रक्रिया है, पशुमें वह सिद्धि है, मनुष्यमें नहीं है, अतएव टेलीपैथीका विकास होनेसे मनुष्यकी उन्नति नहीं होगी, बल्कि अवनति ही होगी। निस्संदेह यह तर्क

स्थूलबुद्धि अंगरेजके उपयुक्त ही है! अवश्य ही बुद्धिका विकास होने-के कारण मनुष्यने एकादश इन्द्रियका पूर्ण विकास करनेसे मुंह मोड़ लिया है, परन्तु यह अच्छा ही हुआ है, अन्यथा प्रयोजनके अभावमें उसकी बुद्धिका विकास इतना शीघ्र न होता। परन्तु जब बुद्धि-का सम्पूर्ण और सर्वांगीण विकास हो गया है तब एकादश इन्द्रिय-का पूर्ण विकास करना मनुष्य-जातिका कर्तव्य है। इससे बुद्धिका विचार्य ज्ञान विस्तारित होगा, मनुष्य भी मन और बुद्धिका पूर्ण अनुशीलन कर अन्तर्निहित देवत्वकी अभिव्यक्तिका उपयुक्त पात्र होगा। किसी भी शक्तिका विकास अवनतिका कारण नहीं हो सकता—केवल शक्तिका अवैध प्रयोग करनेसे, मिथ्या उपयोग करनेसे, असामंजस्यका दोष उत्पन्न होनेसे, अवनति हो सकती है। ऐसे बहुतसे लक्षण दिखायी दे रहे हैं जिनसे यह मालूम होता है कि एकादश इन्द्रियको पूर्ण करनेका, प्राकाम्यको बढ़ानेका कार्य आरंभ करनेका समय आ गया है।

विश्वरूपदर्शन

गीतामें विश्वरूप

'वन्दे मातरम्' शीर्षक प्रबंधमें हमारे श्रद्धेय मित्र विपिनचन्द्र पालने प्रसंगवशात् अर्जुनके विश्वरूपदर्शनका उल्लेख करते हुए यह लिखा है कि गीताके एकादश अध्यायमें जो विश्वरूपदर्शनका वर्णन किया गया है वह एकदम असत्य है, केवल कविकी कल्पना है। हम इस बातका प्रतिवाद करनेके लिये बाध्य हैं। विश्वरूपदर्शन गीताका अत्यन्त आवश्यक अंग है, अर्जुनके मनमें जो दुविधा और संदेह उत्पन्न हुआ था, उसका श्रीकृष्णने तर्क और ज्ञानगर्भित उक्ति-के द्वारा निरसन किया था, किंतु तर्क और उपदेशके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह दृढ़प्रतिष्ठित नहीं होता, जिस ज्ञानकी उपलब्धि होती है वही ज्ञान दृढ़प्रतिष्ठ होता है। इसी कारण अर्जुनने अन्तर्यामीकी गुप्त प्रेरणासे विश्वरूपदर्शनकी आकांक्षा प्रकट की। विश्वरूपदर्शनसे अर्जुनका संदेह चिरकालके लिये तिरोहित हो गया, बुद्धि पवित्र और विशुद्ध होकर गीताका परम रहस्य ग्रहण करनेके योग्य हो गयी। विश्वरूपदर्शनसे पहले गीतामें जो ज्ञान कथित हुआ है वह साधकके लिये उपयोगी, पर ज्ञानका बहिरंग है; उस विश्वरूपदर्शनके बाद जो ज्ञान कथित हुआ है वह ज्ञान गूढ़ सत्य, परम रहस्य, सनातन शिक्षा है। उसी विश्वरूपदर्शनके वर्णनको यदि हम कविकी उपमा कहें तो गीताकी गंभीरता, सत्यता और

गभीरता नष्ट हो जाती है, योगलब्ध गभीरतम शिक्षा कतिपय दार्शनिक मत और कविकल्पनाके समूहके रूपमें परिणत हो जाती है। विश्वरूपदर्शन कल्पना नहीं है, उपमा नहीं है, वल्कि सत्य है; अतिप्राकृत सत्य नहीं है, क्योंकि विश्व प्रकृतिके अन्तर्गत है, विश्वरूप अतिप्राकृत नहीं हो सकता। विश्वरूप कारण जगत्का सत्य है, कारण जगत्का रूप दिव्य चक्षुके सामने प्रकट होता है। दिव्यचक्षुप्राप्त अर्जुनने कारण जगत्का विश्वरूप देखा था।

साकार और निराकार

जो लोग निर्गुण निराकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे गुण और आकारकी बातको रूपक और उपमा कहकर उड़ा देते हैं; जो लोग सगुण निराकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे शास्त्रोंकी दूसरी तरहकी व्याख्या करके निर्गुणत्वको अस्वीकार करते हैं तथा आकारको रूपक और उपमा कहकर उड़ा देते हैं। जो लोग सगुण साकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे उन दोनोंके ऊपर आक्रमण करते हैं। हम इन तीनों मतोंको संकीर्ण तथा अपूर्ण-ज्ञान-सम्भूत मानते हैं। कारण, जिन लोगोंने साकार और निराकार, द्विविध ब्रह्मकी उपलब्धि की है वे लोग भला किस प्रकार एकको सत्य और दूसरेको असत्य कल्पना कहकर ज्ञानके अन्तिम प्रमाणको नष्ट कर सकते हैं तथा असीम ब्रह्मको सीमाके अधीन कर सकते हैं? अगर हम ब्रह्मके निर्गुणत्व, निराकारत्वको अस्वीकार करें तो हम भगवान्की महिमा घटा देते हैं—यह बिलकुल ठीक है; परंतु अगर हम ब्रह्मके सगुणत्व और साकारत्वको अस्वीकार करें तो हम भगवान्की

महिमा घटा देते हैं—यह बात भी ठीक है। भगवान् रूपके कर्त्ता, स्रष्टा और अधीश्वर हैं, वह किसी रूपमें आबद्ध नहीं हैं; परन्तु वह जिस तरह साकारत्वद्वारा आबद्ध नहीं हैं उसी तरह निराकारत्वद्वारा भी आबद्ध नहीं हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, स्थूल प्रकृतिके नियम अथवा देश-कालके नियम-रूप जालमें उन्हें फंसानेका स्वांग रचकर अगर हम यह कहें कि तुम जब अनन्त हो तो हम तुम्हें सान्त नहीं होने देंगे, कोशिश करके देखो तुम नहीं हो सकते, तुम हमारे अकाट्य तर्क और युक्तिसे आबद्ध हो, जैसे प्रास्पेरोके इन्द्रजालमें फर्डिनैण्ड बंधा हुआ था, तो यह कैसी हास्यास्पद बात होगी, यह कितने घोर अहंकार और अज्ञानका परिचायक होगा। भगवान् बंधन-रहित हैं, निराकार और साकार हैं, साधकको साकार होकर दर्शन देते हैं—उसी आकारमें पूर्ण भगवान् रहते हैं, फिर भी उसी समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको भी परिव्याप्त किये रहते हैं। क्योंकि, भगवान् देशकालातीत, अतर्कगम्य हैं, देश और काल उनके खेलकी सामग्री हैं, देश और कालरूपी जाल फेंककर, सर्वभूतको पकड़कर वह क्रीड़ा कर रहे हैं; परन्तु हम उन्हें उसी जालमें नहीं पकड़ सकते। हम जितनी ही बार तर्क और दार्शनिक युक्तिका प्रयोग कर उस असाध्य साधनको करने जाते हैं उतनी ही बार रंगमय उस जालको हटाकर, हमारे सामने, पीछे, बगलमें, हमसे दूर, चारों ओर, मीठी-मीठी हंसी हंसते हुए, विश्वरूप और विश्वातीत रूपको फैलाकर हमारी बुद्धिको परास्त करते हैं। जो कहता है कि हमने उन्हें जान लिया वह उन्हें बिलकुल नहीं जानता; जो यह कहता है कि हम जानते हैं फिर भी हम

नहीं जानते, वहीं सच्चा ज्ञानी है।

विश्वरूप

जो शक्तिके उपासक हैं, कर्मयोगी हैं, यंत्रीका यंत्र बनकर भगवन्निर्दिष्ट कार्य करनेका आदेश पा चुके हैं, उनकी दृष्टिमें विश्वरूपदर्शन अत्यन्त आवश्यक है। विश्वरूपके दर्शनसे पहले भी उन्हें आदेश मिल सकता है। किन्तु उस दर्शनके न हो जानेतक वह आदेश ठीक-ठीक स्वीकृत नहीं होता, पेश हो जाता है, मंजूर नहीं होता। उस समयतक उनकी कर्मशिक्षाका और तैयार होनेका समय होता है। विश्वरूपदर्शन हो जानेपर कर्मका आरंभ होता है। विश्वरूपदर्शन कई प्रकारसे हो सकता है—जैसी साधना हो, जैसा साधकका स्वभाव हो। कालीके विश्वरूपका दर्शन होनेपर साधक जगत्‌भरमें अपरूप नारी-रूप देखते हैं, उन्हें ऐसा दिखायी देता है मानो एक पर साथ ही अगणित देहोंसे युक्त, सर्वत्र वही निविड़-तिमिर-प्रसारक घनकृष्ण कुन्तलराशि आकाशमें छा रही है, सर्वत्र उसी रक्ताक्त खड्गकी आभा आंखोंको झुलसाती हुई नृत्य कर रही है, जगद्व्यापी उसी भीषण अट्टहासका स्रोत विश्व-ब्रह्माण्डको चूर्ण-विचूर्ण कर रहा है। यह सब बातें कवि-कल्पना नहीं हैं, अतिप्राकृत उपलब्धिको अपूर्ण मानवभाषामें प्रकट करनेका विफल प्रयास नहीं हैं। यह कालीका आत्मप्राकट्य है, यह हमारी मांका वास्तविक रूप है,—जो कुछ दिव्य चक्षुसे दिखायी देता है उसीका यह अनतिरंजित सरल सत्य वर्णन है। अर्जुनने कालीके विश्वरूपको नहीं देखा था; उन्होंने देखा था कालरूप श्रीकृष्णका संहा-

रक विश्वरूप। दोनों एक ही बात हैं। दिव्य चक्षुसे उन्होंने देखा था, बाह्यज्ञानहीन समाधिमें जाकर नहीं देखा था—जो कुछ उन्होंने देखा था उसीका अविकल अनतिरंजित वर्णन व्यासदेवने किया था। यह स्वप्न नहीं है, कल्पना नहीं है—सत्य है, जाग्रत् सत्य है।

कारण जगत्का रूप

भगवत्-अधिष्ठित तीन अवस्थाओंकी बात शास्त्रोंमें पायी जाती है—प्राज्ञ-अधिष्ठित सुषुप्ति, तैजस या हिरण्यगर्भ-अधिष्ठित स्वप्न, विराट्-अधिष्ठित जाग्रत्। प्रत्येक अवस्था एक-एक जगत् है। सुषुप्तिमें कारण जगत् है, स्वप्नमें सूक्ष्म जगत् है, जाग्रत्में स्थूल जगत् है। कारणमें जो निर्णीत होता है वह हमारे देश-कालसे अतीत सूक्ष्ममें प्रतिभासित होता हैं और स्थूलमें आंशिक रूपमें स्थूल जगत्के नियमानुसार अभिनीत होता है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा, मैं धार्तराष्ट्रगणका पहले ही वध कर चुका हूं, फिर भी स्थूल जगत्में उस समय धार्तराष्ट्रगण युद्धक्षेत्रमें अर्जुनके सामने उपस्थित थे, जीवित थे, युद्धमें संलग्न थे। भगवान्की यह बात असत्य नहीं है, उपमा भी नहीं है। कारण जगत्में उन्होंने उनका वध किया था, अन्यथा इहलोकमें उनका वध करना असम्भव होता। हमारा प्रकृत जीवन कारणमें होता है, स्थूलमें उसकी छायामात्र पड़ती है। परन्तु कारण जगत्का नियम, देश, काल, रूप, नाम इत्यादि बिलकुल भिन्न प्रकारका है। विश्वरूप कारणका रूप है, स्थूलमें दिव्य चक्षुके सामने प्रकट होता है।

दिव्य चक्षु

दिव्य चक्षु क्या वस्तु है? यह कल्पनाका चक्षु नहीं है, कवि-की उपमा नहीं है। योगलब्ध दृष्टि तीन प्रकारकी होती है—सूक्ष्म दृष्टि, विज्ञान-दृष्टि और दिव्य दृष्टि। सूक्ष्म दृष्टिसे हम स्वप्नमें या जाग्रत् अवस्थामें मानसिक मूर्त्तियोंको देखते हैं; विज्ञान-चक्षुसे हम समाधिकी अवस्थामें सूक्ष्म जगत् और कारण जगत्के अन्दर विद्यमान नाम-रूपकी प्रतिमूर्त्तियों और सांकेतिक रूपोंको चित्ताकाशमें देखते हैं, और दिव्य चक्षुसे कारण जगत्के नाम-रूप-की उपलब्धि करते हैं—समाधिमें उपलब्ध करते हैं, स्थूल चक्षुके सामने भी देखते हैं। जो स्थूल इन्द्रियोंके लिये अगोचर है, वह यदि इन्द्रियगोचर हो तो इसे दिव्य चक्षुका प्रभाव समझना चाहिये। अर्जुन दिव्य चक्षुके प्रभावसे जाग्रत् अवस्थामें भगवान्के कारणान्त-र्गत विश्वरूपको देखकर संदेहमुक्त हुए थे। वह विश्वरूपदर्शन भले ही स्थूल जगत्का इन्द्रियगोचर सत्य न हो, पर स्थूल सत्यकी अपेक्षा कहीं अधिक सत्य है—कल्पना, असत्य या उपमा नहीं है।

स्तव-स्तोत्र

साधक, साधन और साध्य—इन तीन अंगोंको लिये हुए ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। साधकोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न होनेके कारण भिन्न-भिन्न साधनाओंका आदेश किया गया है, भिन्न-भिन्न साध्य वस्तुओंका अनुसरण भी किया जाता है। परन्तु स्थूल दृष्टिसे नाना प्रकारके साध्य होनेपर भी, सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर पता चलता है कि सब साधकोंका साध्य एक ही है—वह एक साध्य आत्मतुष्टि है। एक उपनिषद्में याज्ञवल्क्य अपनी सहधर्मिणीको यह समझाते हैं कि आत्माके लिये सब कुछ है, आत्माके लिये स्त्री है, आत्माके लिये धन है, आत्माके लिये प्रेम है, आत्माके लिये सुख है, आत्माके लिये दुःख है, आत्माके लिये जीवन है, आत्माके लिये मरण है। इसी कारण इस प्रश्नकी गुरुता और प्रयोजनीयता बढ़ जाती है कि आत्मा क्या है।

बहुतसे विज्ञ और पंडित व्यक्ति यह कहते हैं कि आत्मज्ञानके लिये इतनी अधिक व्यर्थकी माथा-पच्ची क्यों? इन सब बातोंके सूक्ष्म विचारमें समय नष्ट करना पागलपन है, संसारके आवश्यक विषयोंमें लगे रहो और मानवजातिके कल्याणकी चेष्टा करो। परंतु संसारके लिये क्या-क्या विषय आवश्यक हैं तथा मानवजातिका कल्याण कैसे होगा—इन प्रश्नोंका समाधान भी आत्मज्ञानके ऊपर ही निर्भर करता है। यदि हम अपनी देहको आत्मा समझें तो हम

उसकी तुष्टिके लिये अन्य सभी विचारों और विवेचनाओंको तिलांजलि देकर स्वार्थपरायण नर-पिशाच बन जायंगे। अगर स्त्रीको ही आत्मवत् देखें, आत्मवत् प्यार करें तो स्त्रैण होकर, न्याय-अन्यायका कोई विचार न कर उसके मनके संतोषके लिये प्राणपण चेष्टा करेंगे, दूसरोंको कष्ट देकर उसे ही सुख देंगे, दूसरोंका अनिष्ट कर उसीका अभीष्ट सिद्ध करेंगे। यदि देशको ही आत्मवत् देखें तो हम एक बहुत बड़े देशभक्त होंगे, संभवतः इतिहासमें अमर कीर्त्ति छोड़ जायंगे, परन्तु अन्यान्य धर्मोंका परित्याग कर दूसरे देशोंका अनिष्ट कर सकते हैं, उनके धनका, उनकी स्वाधीनताका अपहरण कर सकते हैं। यदि भगवान्‌को आत्मा समझें अथवा आत्मवत् प्यार करें—दोनों एक ही बात हैं, क्योंकि प्रेम चरम दृष्टि है—तो हम भक्त, योगी, निष्काम-कर्मी बनकर साधारण मनुष्यके लिये अप्राप्य शक्ति, ज्ञान या आनन्द उपभोग कर सकते हैं। यदि निर्गुण परब्रह्मको आत्मा मानें तो परम शान्ति और लयको प्राप्त हो सकते हैं। **यो यच्छ्रद्धः स एव सः**—जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही हो जाता है। मानवजाति चिर-काल साधना करती आ रही है, पहले छोटे, फिर अपेक्षाकृत बड़े, अन्तमें सर्वोच्च परात्पर साध्यकी साधना करती हुई गन्तव्य स्थान श्रीहरिके परम धामको प्राप्त करनेके लिये अग्रसर हो रही है। एक युग था जब मानवजाति केवल शरीरका साधन करती थी, शरीर-साधन उस समयका युगधर्म था, अन्य धर्मोंकी अवहेलना करके भी उस समय शरीरका साधन करना श्रेय पथ माना जाता था। कारण, यदि वैसा न किया जाता तो जो शरीर धर्मसाधन-

का उपाय और आधार है वह उत्कर्षको प्राप्त न करता। उसी तरह एक दूसरे युगमें स्त्री-परिवार, एक दूसरे युगमें कुल, एक दूसरे युगमें—जैसे कि आधुनिक युगमें—जाति ही साध्य होती है। सर्वोच्च परात्पर साध्य परमेश्वर है, भगवान् है। भगवान् ही सबके प्रकृत और परम आत्मा हैं, अतएव प्रकृत और परम साध्य हैं। इसीलिये गीतामें कहा गया है कि सब धर्मोंका परित्याग करो, मेरी ही शरणमें आओ। भगवान्के अन्दर सब धर्मोंका समन्वय हो जाता है, उनका साधन करनेपर वही हमारा भार ग्रहण कर, हमें अपना यंत्र बनाकर स्त्री, परिवार, कुल, जाति और मानव-समष्टिकी परम तुष्टि और परम कल्याणको सिद्ध करते हैं।

एक साध्यके नाना साधकोंका भिन्न-भिन्न स्वभाव होनेके कारण नाना प्रकारका साधन भी होता है। भगवत्-साधनका एक प्रधान उपाय है स्तव-स्तोत्र। स्तव-स्तोत्र सबके लिये उपयोगी साधन नहीं है। ज्ञानीके लिये ध्यान और समाधि, कर्मीके लिये कर्मसमर्पण श्रेष्ठ उपाय है; स्तव-स्तोत्र भक्तिका अंग है—श्रेष्ठ अंग नहीं है, क्योंकि अहैतुक प्रेम भक्तिका चरम उत्कर्ष है, वह प्रेम स्तव-स्तोत्रके द्वारा भगवान्के स्वरूपको आयत्त कर, उसके बाद स्तव-स्तोत्रकी आवश्यकताको अतिक्रम कर उस स्वरूपके भोगमें लीन हो जाता है; तथापि ऐसा कोई भक्त नहीं जो स्तव-स्तोत्र किये बिना रह सके, जब अन्य किसी साधनकी आवश्यकता नहीं रहती तब भी स्तव-स्तोत्रके रूपमें प्राणोंका उच्छ्वास उमड़ पड़ता है। केवल इतना स्मरण रखना चाहिये कि साधन साध्य नहीं है, जो मेरा साधन है वह दूसरेका साधन नहीं भी हो सकता। अनेक भक्तों-

में यह धारणा बैठी हुई दिखायी देती है कि जो भगवान्का स्तव-स्तोत्र नहीं करते, स्तोत्र सुनकर आनंद प्रकट नहीं करते वे धार्मिक नहीं ह। यह भ्रान्ति और संकीर्णताका लक्षण है। बुद्ध स्तव-स्तोत्रका पाठ नहीं करते थे, तथापि बुद्धको कौन अधार्मिक कह सकता है ? भक्ति-मार्गकी साधनाके लिये स्तव-स्तोत्रकी सृष्टि की गयी है।

भक्त भी नाना प्रकारके होते हैं, स्तव-स्तोत्रके भी नाना प्रयोग होते हैं। आर्त्त भक्त दुःखके समय भगवान्के निकट रोनेके लिये, सहायता मांगनेके लिये, उद्धारकी आशासे स्तुति करते हैं; अर्थार्थी भक्त किसी भी मनोरथसिद्धिकी आशासे धन, मान, सुख, ऐश्वर्य जय, कल्याण, भुक्ति, मुक्ति इत्यादिके लिये संकल्प करके भगवान्के सामने प्रार्थना करते हैं। इस तरहके भक्त वहुत बार भगवान्को प्रलोभन दिखाकर संतुष्ट करना चाहते हैं, एक-एक व्यक्ति तो अभीष्टसिद्धि न होनेपर परमेश्वरके ऊपर वहुत क्रोधित हो जाते हैं, उन्हें निष्ठुर, प्रवंचक इत्यादि कहकर गालियां देते हैं और यह कहते हैं कि अब मैं भगवान्की पूजा नहीं करूंगा, उनका मुंह नहीं देखूंगा, कभी नहीं मानूंगा। वहुतसे लोग हताश होकर नास्तिक हो जाते हैं और यह सिद्धांत वना लेते हैं कि यह जगत् दुःखका राज्य है, अन्याय-अत्याचारका राज्य है, भगवान् नहीं हैं। यह दो प्रकारकी भक्ति अज्ञ भक्ति ह; पर इसी कारण उपेक्षणीय नहीं है, क्षुद्रसे ही महत्में मनुष्य ऊपर उठता है। अविद्याका साधन विद्याका प्रथम सोपान ह। बालक भी अज्ञ होता है, किंतु बालककी अज्ञतामें माधुय ह, बालक भी मांके पास रोने आता है, दुःखका प्रतिकार चाहता है, नाना प्रकारके सुख और स्वार्थकी सिद्धिके

लिये दौड़ा आता है, साधता है, रोता-धोता है, न पानेपर क्रोध भी करता है, उपद्रव करता है। जगज्जननी भी अज्ञ भक्तका सारा हठ और उपद्रव सहन करती हैं।

जिज्ञासु भक्त किसी अर्थसिद्धिके लिये या भगवान्‌को संतुष्ट करनेके लिये स्तवगान नहीं करते, उनके लिये स्तव-स्तोत्र केवल भगवान्‌के स्वरूपकी उपलब्धि तथा अपने भावकी पुष्टिका उपाय है। ज्ञानी भक्तको वह आवश्यकता भी नहीं होती, क्योंकि उन्हें स्वरूपकी उपलब्धि हो चुकी है, उनका भाव सुदृढ़ और सुप्रतिष्ठित हो गया है, उन्हें केवल भावोच्छ्वासके लिये स्तव-स्तोत्रकी आवश्यकता होती है। गीतामें कहा गया है कि इन चारों श्रेणियोंके भक्त उदार हैं, कोई उपेक्षणीय नहीं है, सभी भगवान्‌के प्रिय हैं, फिर भी ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञानी और भगवान् एकात्म होते हैं। भगवान् भक्तके साध्य हैं, अर्थात् आत्मरूपमें ज्ञातव्य और प्राप्य हैं; ज्ञानी भक्त और भगवान्‌में आत्मा और परमात्माका संबंध होता है। ज्ञान, प्रेम और कर्म—इन तीन सूत्रोंके द्वारा आत्मा और परमात्मा परस्पर आवद्ध होते हैं। कर्म होता है, वह कर्म भगवद्दत्त होता है, उसमें कोई प्रयोजन या स्वार्थ नहीं होता, प्रार्थनीय कुछ भी नहीं होता; प्रेम होता है, वह प्रेम कलह और अभिमानसे शून्य होता है—निःस्वार्थ, निष्कलंक, निर्मल होता है; ज्ञान होता है, वह ज्ञान शुष्क और भावरहित नहीं होता, गभीर, तीव्र आनन्द और प्रेमसे पूर्ण होता है। साध्य एक होनेपर भी जैसा साधक होता है वैसा ही साधन होता है, उसी तरह भिन्न-भिन्न साधक एक ही साधनका भिन्न-भिन्न प्रयोग करते हैं।

जातीयता

नवजन्म

गीतामें अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा—"जो लोग योगमार्गमें प्रवेश कर अंततक पहुंचते-न-पहुंचते पतित और योगभ्रष्ट हो जाते हैं, उनकी गति क्या होती है ? वे क्या ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों फलोंसे वंचित होकर वायुखंडित मेघकी तरह विनष्ट हो जाते हैं ?" इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने कहा—"इहलोक या पर-लोकमें वैसे व्यक्तिका विनाश नहीं हो सकता। कल्याणकृत व्यक्ति कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता। पुण्यलोकोंमें उसकी गति होती है, वहां वह बहुत दिनोंतक निवास कर शुद्ध श्रीमान् पुरुषोंके घरमें अथवा योगयुक्त महापुरुषोंके कुलमें दुर्लभ जन्म, प्राप्त करता है, फिर उस जन्ममें पूर्वजन्मप्राप्त योगलिप्सासे परि-चालित होकर सिद्धिके लिये और भी प्रयास करता है, और अंत-में अनेक जन्मोंके अभ्याससे पापमुक्त होकर परम गतिको प्राप्त करता है।" जो पूर्वजन्मवाद चिरकाल आर्यधर्मके योगलब्ध ज्ञानका एक अंगविशेष रहा है, उसीकी प्रतिष्ठा पाश्चात्य विद्या-के प्रभावसे शिक्षित संप्रदायमें नष्टप्राय हो गयी थी, और अब श्रीरामकृष्ण-लीलाके प्रसादसे, वेदांतशिक्षाका प्रचार होनेसे और

गीताका अध्ययन होनेंसे वही सत्य पुनः प्रस्थापित हो रहा है। स्थूल जगत्‌में जैसे Heredity (पैतृकगुणानुवृत्ति) एक प्रधान सत्य है, वैसे ही सूक्ष्म जगत्‌में पूर्वजन्मवाद एक प्रधान सत्य है। श्रीकृष्णकी उक्तिमें ये दोनों ही सत्य निहित हैं। योगभ्रष्ट पुरुष अपने पूर्वजन्मार्जित ज्ञानके संस्कारके साथ जन्म ग्रहण करते हैं, उसी संस्कारद्वारा, वायुचालित तरणीकी तरह, योगपथपर चालित होते हैं। परंतु कर्मफलकी प्राप्तिके योग्य शरीर उत्पन्न करनेंके लिये उपयुक्त कुलमें जन्म ग्रहण करना आवश्यक है। उत्कृष्ट वंशपरंपरा (Heredity) सुयोग्य शरीर उत्पन्न करती है। शुद्ध श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म होनेंसे शुद्ध सबल शरीर उत्पन्न करना संभव होता है, योगी-कुलमें जन्म ग्रहण करनेंसे उत्कृष्ट मन और प्राण गठित होता है तथा उसी प्रकारकी शिक्षा और मानसिक गति भी प्राप्त होती है।

कुछ वर्षोंसे भारतवर्षमें यह दिखायी दे रहा है मानो पुरानी तमोभिभूत जातिके अंदर एक नयी जाति तैयार हो रही है। भारत-माताके पुराने संतान धर्मग्लानि और अधर्मके अंदर जन्म ग्रहण कर और तदनुसार शिक्षा प्राप्त कर अल्पायु, क्षुद्राशय, स्वार्थपरायण और संकीर्ण-हृदय हो गये थे। उनके अंदर बहुत-से तेजस्वी महात्माओंने शरीर धारण कर इस विषम विपत्ति-कालमें जातिकी रक्षा की। किंतु उन्होंनें अपनी शक्ति और प्रतिभाके उपयुक्त कर्म न कर केवल जातिके भावी माहात्म्य और विशाल कर्मका क्षेत्र ही निर्माण किया। उन्हींके पुण्यबल-से नव उषाकी किरणमाला चारों ओर उद्भासित हो रही है।

भारत-जननीके नवीन संतान माता-पिताके गुण प्राप्त न कर साहसी, तेजस्वी, उच्चाशय, उदार, स्वार्थत्यागी, परार्थ और देश-हितसाधनमें उत्साही और उच्चाकांक्षापूर्ण हो रहे हैं। इसीलिये आजकल माता-पिताके वशमें न हो युवकगण अपने स्वतंत्र पथके पथिक हो रहे हैं, वृद्ध और तरुणके मतमें अनैक्य और कार्यके समय विरोध उपस्थित हो रहा है। वृद्ध लोग इन देवांशसम्भूत तरुण सत्ययुगप्रवर्त्तकोंको स्वार्थ और संकीर्णताकी सीमामें आबद्ध रखना चाहते हैं, अनजानमें कलिकी सहायता करते हैं। परन्तु आजके युवक महाशक्तिसृष्ट अग्निस्फुलिंग हैं, प्राचीनको भूमिसात् कर नवीन का निर्माण करनेके लिये उद्यत हो रहे हैं, वे अब पितृ-भक्ति और आज्ञाकारिताकी रक्षा करनेमें अक्षम हो रहे हैं। इस अनर्थका उपशमन भगवान् ही कर सकते हैं। तब महाशक्तिकी इच्छा विफल नहीं हो सकती, यह नवीन सन्तति जो कुछ करनेके लिये आयी है वह पूरा किये विना नहीं जा सकती। अवश्य ही इस नवीनके अन्दर भी पुरातनका प्रभाव विद्यमान है। अपकृष्ट वंशानुक्रम (Heredity)) के दोषसे, आसुरिक शिक्षाके दोषसे बहुतेरे कुलांगार भी जन्म ग्रहण कर रहे हैं, जिन्हें नवयुगका प्रवर्तन करनेका आदेश मिला है वे भी अन्तर्निहित तेज और शक्तिका विकास करनेमें असमर्थ हो रहे हैं। फिर भी नवीन लोगोंके भीतर सत्ययुगके प्राकटयका एक अपूर्व लक्षण दिखायी दे रहा है और वह ग्रह है कि उनकी धर्ममें मति है और बहुतोंके हृदयमें योग-लिप्सा और अर्घ-विकसित योगशक्ति विद्यमान है।

अलीपुर-बम-केसके अभियुक्त अशोक नन्दी शेषोक्त श्रेणीके एक

आदमी थे। जो लोग उन्हें पहचानते थे उनमेंसे कोई भी यह विश्वास नहीं करता था कि वह किसी भी षड्यन्त्रमें लिप्त हो सकते थे। उन्हें थोड़े और अविश्वासयोग्य प्रमाणपर ही दंड दिया गया था। वह अन्य युवकोंकी तरह देशसेवाकी प्रबल आकांक्षासे अभिभूत नहीं हुए थे। अपनी बुद्धिमें, चरित्रमें, प्राणमें वह पूर्ण-रूपेण योगी और भक्त थे, संसारीके गुण उनमें नहीं थे। उनके पितामह एक सिद्ध तांत्रिक योगी थे, उनके पिता भी योगप्राप्त शक्ति रखनेवाले एक पुरुष थे। गीतामें योगीकुलमें जो जन्म ग्रहण करना मनुष्यके लिये अति दुर्लभ कहा गया है वही दुर्लभ जन्म ग्रहण करनेका सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ था। थोड़ी उम्रमें ही उनकी अन्तर्निहित योगशक्तिका लक्षण कभी-कभी प्रकट हुआ करता था। पुलिसद्वारा पकड़े जानेसे बहुत पहले ही उन्हें यह मालूम हो गया था कि यौवन-कालमें ही उनकी मृत्यु निर्दिष्ट है, अतएव विद्योपार्जन और सांसारिक जीवनकी आरंभिक तैयारियोंमें उनका मन नहीं लगा, फिर भी पिताके परामर्शके अनुसार वह पूर्व-ज्ञात असिद्धिकी उपेक्षा कर कर्तव्य कर्मका पालन करते थे और योगमार्गका अनुसरण करते थे। ऐसे समय वह अकस्मात् पकड़ लिये गये। उस कर्मफलप्राप्त विपत्तिसे विचलित न हो वह जेल-में अपनी सारी शक्ति योगाभ्यासमें प्रयुक्त करने लगे। इस मुक-द्दमेके आसामियोंमेंसे बहुतसे लोगोंने इस पथका अवलंबन किया था और उनमें वह अग्रगण्य न होनेपर भी अन्यतम अवश्य थे। वह भक्ति और प्रेममें किसीसे भी घटकर नहीं थे, उनका उदार चरित्र, गंभीर भक्ति और प्रेमपूर्ण हृदय सबको मुग्ध कर लेता था।

गोसाईंकी हत्याके समय वह अस्पतालमें रुग्ण अवस्थामें पड़े थे। पूर्ण स्वस्थ होनेसे पहले ही निर्जन कारावासमें रखे जानेके कारण वह वार-बार ज्वरसे पीड़ित होने लगे। उसी ज्वरकी अवस्थामें उन्हें खुले कमरेमें शीत कालकी रातें बितानी पड़तीं। इस तरह उन्हें क्षयरोग हो गया और उसी अवस्थामें, जिस समय प्राणरक्षाकी कोई आशा नहीं थी उस समय, उन्हें विषम दंड देकर फिरसे उन्हें उसी मृत्यु-गृहमें बंद कर दिया गया। बैरिस्टर चित्तरंजन दासकी प्रार्थनापर उन्हें अस्पताल ले जानेकी व्यवस्था की गयी, पर जमानतके ऊपर उन्हें नहीं छोड़ा गया। अन्तमें छोटे लाटकी सहृदयताके कारण उन्हें अपने घरमें जाकर, अपने आत्मीय-स्वजनोंकीं सेवा प्राप्त कर मरनेकी अनुमति प्राप्त हुई। अपीलके द्वारा मुक्त होनेसे पहले ही भगवान्ने उन्हें इस देह-कारागारसे मुक्त कर दिया। अन्तिम समयमें अशोककी योगशक्तिमें विलक्षण वृद्धि हो गयी थी, मृत्युके दिन विष्णु-शक्तिसे अभिभूत होकर, सबको भगवान्का मुक्तिदायक नाम और उपदेश वितरण कर, नामोच्चारण करते-करते उन्होंने देह-त्याग किया। पूर्वजन्मार्जित दुःखफलका क्षय करनेके लिये अशोक नन्दीका जन्म हुआ था, इसीलिये उन्हें इस अनर्थक कष्टको सहन करना पड़ा और उनकी अकाल मृत्यु हुई। सत्ययुगका प्रवर्तन करनेके लिये जिस शक्तिकी आवश्यकता है वह शक्ति उनके शरीरमें अवतीर्ण नहीं हुई थी, परन्तु वह स्वाभाविक योगशक्तिके प्राकटयका उज्ज्वल दृष्टांत दिखा गये हैं। कर्मकी गति ऐसी ही होती है। पुण्यवान् लोग पापफलका क्षय करनेके लिये थोड़े समयतक पृथ्वीपर विचरण करते हैं, पीछे पापमुक्त

होकर अशुद्ध शरीरका त्याग करते हैं और फिरसे] दूसरा शरीर ग्रहण कर अन्तर्निहित शक्तिको प्रकट करने तथा जीवोंका हित-साधन करनेके लिये आते हैं।

जातीय उत्थान

हमारे प्रतिपक्षी अंगरेज लोग हमारे वर्तमान महत् और सर्व-व्यापी आन्दोलनके विषयमें आरम्भसे ही यह कहते आ रहे हैं कि यह विद्वेषके कारण उत्पन्न हुआ है और उनके अनुकरणप्रिय कुछ भारतवासी भी इस बातकी पुनरावृत्ति करनेमें त्रुटि नहीं करते। हम धर्मका प्रचार करना चाहते हैं; जातीय उत्थानके लिये जो आन्दोलन हो रहा है वह धर्मका ही एक प्रधान अंग है और इसी-लिये हम उसमें अपनी शक्ति लगा रहे हैं। यह आन्दोलन अगर विद्वेषसे उत्पन्न हुआ होता तो हम इसे धर्मका अंग मानकर कभी इसका प्रचार करनेका साहस न करते। विरोध, युद्ध और हत्या-तक धर्मका अंग हो सकता है; किन्तु विद्वेष और घृणा धर्मके बाहरकी चीजें हैं। विद्वेष और घृणा जगत्की क्रमोन्नतिके विकास-के अन्दर वर्जनीय होती हैं, अतएव जो लोग स्वयं इन वृत्तियोंका पोषण करते हैं अथवा जातिके अन्दर इन्हें जाग्रत् करनेकी चेष्टा करते हैं वे अज्ञानके मोहमें पतित होकर पापको प्रश्रय देते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि इस आन्दोलनमें कभी विद्वेष प्रविष्ट हुआ ही नहीं; जब एक पक्ष विद्वेष और घृणा करता है तब दूसरे पक्ष-में भी उसके प्रतिघातस्वरूप विद्वेष और घृणाका उत्पन्न होना अनि-वार्य हो जाता है। इस प्रकारका पाप उत्पन्न करनेका उत्तर-दायित्व बंगदेशके कतिपय अंगरेजी संवादपत्रोंपर है तथा कुछ उद्धत-

5

स्वभाव अत्याचारी व्यक्तियोंके आचरणपर है। संवाद-पत्रोंमें प्रत्येक दिन उपेक्षा, घृणा और विद्वेषसूचक तिरस्कार तथा रेलमें, रास्तेमें, हाटमें, बाजारमें गालियां, अपमान और मारपीटतक बहुत समयतक सहन करते-करते अन्तमें सहिष्णु और धीर-स्वभाव भारत-वासियोंके लिये भी यह उपद्रव असह्य हो गया और 'गालीके बदले गाली तथा मारके बदले मार' इस नीतिका पालन करना आरम्भ हो गया। अनेक अंगरेजोंने भी अपने देशभाइयोंके इस दोष और अशुभ दृष्टिके दायित्वको स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त राजपुरुषगणं दारुण भ्रमवश बहुत दिनोंसे प्रजाके स्वार्थको हानि पहुंचानेवाले, असन्तोषजनक और मर्मवेदनादायक कार्य करते आ रहे हैं। मनुष्यका स्वभाव क्रोधप्रवण होता है, स्वार्थमें आघात लगनेपर, अप्रिय आचरण करनेपर अथवा प्राण-प्रिय वस्तु या भावके ऊपर अत्याचार करनेपर वह सर्वप्राणीनिहित क्रोधवह्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है, क्रोधकी अधिकता तथा अन्धगतिसे विद्वेष और विद्वेषजात आचरण भी उत्पन्न होता है। भारतवासियोंके प्राणमें बहुत दिनों-से कुछ विशिष्ट अंगरेज लोगोंके अनुचित आचरण तथा उद्धत वार्त्तालापके कारण एवं वर्तमान शासनतन्त्रमें प्रजाका कोई भी सच्चा अधिकार या क्षमता न होनेके कारण भीतर-ही-भीतर गुप्त रूपसे असन्तोष बढ़ता जा रहा था। अन्तमें लार्ड कर्जनके शासनकालमें इस असन्तोषने भीषण मूर्त्ति धारण कर ली और बंग-भंग-जात असह्य मर्मवेदनाके कारण असाधारण क्रोध देशभरमें प्रज्ज्वलित हो उठनेपर यह राजपुरुषोंकी निग्रहनीतिके कारण विद्वेषमें परिणत हो गया। यह भी हम स्वीकार करते हैं कि बहुतसे लोगोंने क्रोधसे

अधीर होकर उस विद्वेषाग्निके अन्दर प्रचुर मात्रामें घृताहुति भी दी है। भगवान्‌की लीला अत्यन्त विचित्र है, उनकी सृष्टिमें शुभ और अशुभके द्वन्द्वद्वारा जगत्‌की क्रमोन्नति परिचालित होती है और अशुभ प्रायः ही शुभकी सहायता करता है, भगवान्‌के अभीप्सित मंगलमय फलको समुत्पन्न करता है। इस विद्वेषकी सृष्टिका, जो परम अशुभ है, शुभ फल यह हुआ है कि तमोभिभूत भारतवासियोंके अन्दर राजसिक शक्तिके जागरणके उपयुक्त उत्कट राजसिक प्रेरणा उत्पन्न हुई है। परंतु इसी कारण हम अशुभकी या अशुभ-कारियोंकी प्रशंसा नहीं कर सकते। जो लोग राजसिक अहंकारके वश होकर अशुभ कार्य करते हैं उनके कार्यद्वारा ईश्वर-निर्दिष्ट शुभ फलके उत्पन्न होनेमें सहायता पहुंचनेके कारण उनका दायित्व और फलभोगस्वरूप बन्धन तनिक भी कम नहीं होता। जो लोग जातिगत विद्वेषका प्रचार करते हैं, वे भ्रान्त हैं; विद्वेषका प्रचार करनेसे जो फल होता है उसका दसगुना फल निःस्वार्थ धर्मप्रचारसे होता है और उससे अधर्म तथा अधर्मजनित पापफलका भोग नहीं करना पड़ता, बल्कि उससे धर्मकी वृद्धि तथा विशुद्ध पुण्यकी सृष्टि होती है। हम जातिगत विद्वेष और घृणा उत्पन्न करनेवाली बात नहीं लिखेंगे, दूसरोंको भी वैसे अनर्थकी सृष्टि करनेसे मना करेंगे। जाति-जातिमें स्वार्थका विरोध उत्पन्न होनेपर अथवा वर्तमान अवस्था-का अपरिहार्य अंग बन जानेपर हम कानून और धर्मनीतिके अनुसार परायी जातिका स्वार्थ नष्ट करने तथा स्वजातिका स्वार्थ सिद्ध करनेके अधिकारी हैं। अत्याचार या अन्यायपूर्ण कार्य घटित होने-पर हम कानून और धर्मनीतिके अनुसार उसका तीव्र उल्लेख करने

तथा जातीय शक्ति-संघात, सर्वविध वैध उपाय एवं वैध प्रतिरोधके द्वारा उसका खण्डन करनेके अधिकारी हैं। कोई व्यक्तिविशेष, चाहे वह राजपुरुष हो या देशवासी, यदि अमंगलजनक, अन्यायपूर्ण और अयौक्तिक कार्य करे या मत प्रकट करे तो हम भद्र-समाजोचित आचारानुकूल विद्रूप और तिरस्कारके द्वारा उस कार्य या उस मतका प्रतिवाद और खण्डन करनेके अधिकारी हैं। परंतु किसी जाति या व्यक्तिके लिये विद्वेष या घृणाका पोषण करने या सृष्टि करनेके अधिकारी नहीं हैं। अतीत कालमें यदि ऐसा दोष हो गया हो तो वह अतीतकी बात है; पर अब हम सबको तथा विशेषकर जातीय पक्षके समाचारपत्रों और कार्यक्षम युवकोंको यह उपदेश देते हैं कि वे इस बातमें सावधान रहें कि भविष्यमें यह दोष किसीके द्वारा न हो।

आर्यज्ञान, आर्यशिक्षा, आर्य-आदर्श जड़ज्ञानवादी राजसिक भोग-प्रायण पाश्चात्य जातिके ज्ञान, शिक्षा और आदर्शसे एकदम भिन्न हैं। यूरोपीय लोगोंके मतानुसार स्वार्थ और सुखान्वेषणके बिना कर्मका आचरण नहीं हो सकता, विद्वेषके बिना विरोध और युद्ध होना असंभव है। उनकी धारणा यही है कि या तो सकाम कर्म किया जा सकता है, अन्यथा कामनाहीन संन्यासी बनकर बैठा जा सकता है। उनके विज्ञानका मूलमंत्र यही है कि जीविकाके लिये जो संघर्ष होता है उसीसे जगत् गठित हुआ है, उसीके द्वारा जगत्-की क्रमोन्नति साधित हो रही है। जिस दिन आर्योंने उत्तर मेरु-से दक्षिणकी यात्रा कर पंचनदभूमिको अधिकृत किया था उसी दिन-से इस सनातन शिक्षाको प्राप्त कर उन्होंने सनातन प्रतिष्ठा भी

प्राप्त की है कि यह विश्व आनन्दधाम है, प्रेम, सत्य और शक्तिके विकासके लिये सर्वव्यापी नारायण स्थावर और जंगममें, मनुष्य, पशु, कीट और पतंगमें, साधु और पापीमें, शत्रु और मित्रमें, देव और असुरमें प्रकट होकर जगत्‌भरमें क्रीड़ा कर रहे हैं। क्रीड़ाके लिये ही सुख है, क्रीड़ाके लिये ही दुःख है, क्रीड़ाके लिये ही पाप है, क्रीड़ाके लिये ही पुण्य है, क्रीड़ाके लिये ही मित्रता है, क्रीड़ाके लिये ही शत्रुता है, क्रीड़ाके लिये ही देवत्व है, क्रीड़ाके लिये ही असुरत्व है। मित्र-शत्रु सभी क्रीड़ाके सहचर हैं, दो दलमें विभक्त होकर उन्होंने स्वपक्ष और विपक्षकी सृष्टि की है। आर्य मित्रकी रक्षा करते हैं और शत्रुका दमन करते हैं, परन्तु उन्हें आसक्ति नहीं होती। वे सर्वत्र, सब भूतोंमें, सब वस्तुओंमें, सभी कर्मों और सभी फलोंमें नारायणके दर्शन कर इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, सिद्धि-असिद्धिके प्रति समभाव रखते हैं। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी परिणाम उन्हें इष्ट होते हैं, सभी लोग उनके मित्र होते हैं, सभी घटनाएं उन्हें सुख देती हैं, सभी कर्म उनके लिये आचरणीय होते हैं, सभी फल उनके लिये वांछनीय होते हैं। पूर्णरूपेण योगकी प्राप्ति हुए बिना द्वन्द्वका नाश नहीं होता, उस अवस्थाको बहुत थोड़ेसे लोग ही प्राप्त कर पाते हैं, परंतु आर्यशिक्षा साधारण आर्योंकी सम्पत्ति है। आर्य इष्टका साधन और अनिष्टका वर्जन करनेकी चेष्टा करते हैं, परंतु इष्टकी प्राप्ति होनेपर विजय-मदसे मत्त नहीं हो जाते और न अनिष्टके घटित होनेपर भयभीत ही होते हैं। मित्रकी सहायता करना तथा शत्रुको पराजित करनी उनके प्रयासका उद्देश्य होता है, पर वे

शत्रुके प्रति विद्वेष और मित्रके प्रति अन्यायपूर्ण पक्षपातका भाव नहीं रखते, कर्तव्यके लिये वे स्वजनोंका संहार भी कर सकते हैं, विपक्षियोंकी प्राणरक्षाके लिये प्राणत्याग भी कर सकते हैं। सुख उन्हें प्रिय होता है, दुःख उन्हें अप्रिय होता है, फिर भी वे सुखमें न तो चंचल होते हैं न दुःखमें ही उनकी धीरता और प्रसन्नता विचलित होती है। वे पापका त्याग और पुण्यका संचय करते हैं, किंतु पुण्य कर्मके लिये वे न तो गर्वित होते हैं न पापमें गिर जाने-पर दुर्बल बालककी भांति क्रन्दन करते हैं, बल्कि हंसते-हंसते कीचड़मेंसे निकलकर, कीचभरे शरीरको पोंछकर, परिष्कृत और शुद्ध करके पुनः आत्मोन्नतिकी चेष्टा करते हैं। आर्य कार्यसिद्धिके लिये विपुल प्रयास करते हैं, हजार पराजय होनेपर भी पैर पीछे नहीं हटाते, परन्तु असिद्धिसे दुःखित होना, विषण्ण या असंतुष्ट होना उनके लिये अधर्म है। अवश्य ही जब कोई मनुष्य योगा-रूढ़ होकर, गुणातीतकी तरह कर्म करनेमें समर्थ होता है तब उस-के लिये द्वन्द्वका अन्त हो जाता है, जगन्माता जो कार्य देती हैं उसे ही वह बिना विचारे करता है, जो फल देती हैं उसका ही सानन्द उपभोग करता है, जिन्हें मां उसके पक्षमें निर्दिष्ट कर देती हैं उन्हींको लेकर वह मांका कार्य सम्पन्न करता है, जिन्हें मां विपक्षी-के रूपमें उसे दिखा देती हैं उन्हींका आदेशानुसार दमन या संहार करता है। यही शिक्षा आर्यशिक्षा है। इस शिक्षा के अन्दर विद्वेष या घृणाका स्थान नहीं। नारायण सर्वत्र हैं; भला किससे विद्वेष करें, किससे घृणा करें? अगर हम पाश्चात्य ढंगका राजनीतिक आन्दोलन करें तो फिर विद्वेष और घृणाका आना अनिवार्य है और

यह पाश्चात्य मतानुसार निन्दनीय नहीं है, क्योंकि स्वार्थका विरोध है, एक ओर उत्थान और दूसरी ओर दमन हो रहा है। परन्तु हमारा उत्थान केवल आर्यजातिका उत्थान नहीं है, प्रत्युत आर्य-चरित्र, आर्यशिक्षा, आर्यधर्मका उत्थान है। इस आन्दोलनकी प्रारंभिक अवस्थामें पाश्चात्य राजनीतिका प्रभाव बहुत प्रबल था, फिर भी उस प्राथमिक अवस्थामें भी यह सत्य अनुभूत हुआ है; मातृपूजा, मातृप्रेम और आर्य अभिमानके तीव्र अनुभवसे धर्मप्रधान द्वितीय अवस्था प्रस्तुत हुई है। राजनीति धर्मका अंग है, परन्तु उसका आचरण आर्य-भावके साथ, आर्य-धर्मानुमोदित उपायसे करना चाहिये। हम भावी आशास्वरूप युवकदलसे यह कहते हैं कि यदि तुम्हारे प्राणोंमें विद्वेष हो तो उसे शीघ्र ही जड़से निकाल फेंको। विद्वेषकी तीव्र उत्तेजनासे क्षणिक रजःपूर्ण बल आसानीसे जागृत होता है और शीघ्र ही क्षीण होकर दुर्बलतामें परिणत हो जाता है। जिन लोगोंने देशोद्धार करनेकी प्रतिज्ञा की है और उसके लिये अपने प्राण उत्सर्ग कर दिये हैं उनके अन्दर प्रबल भ्रातृभाव, कठोर उद्यमशीलता, लौहसम दृढ़ता और ज्वलन्त-अग्नितुल्य तेजका संचार करो, उसी शक्तिसे हमें असीम बल प्राप्त होगा और हम चिरविजयी हो सकेंगे।

अतीतकी समस्या

इधर प्रायः सौ वर्षोंसे शिक्षित सम्प्रदायके ऊपर पाश्चात्य भावका पूर्ण आधिपत्य बने रहनेके कारण भारतवासी आर्यज्ञान और आर्यभावसे वंचित होकर शक्तिहीन, पराश्रयपरायण और अनुकरण-प्रिय हो रहे थे। परन्तु अब यह तामसिक भाव तिरोहित हो रहा है। तो भी एक बार इस बातकी मीमांसा करना आवश्यक है कि आखिर इस भावका प्रादुर्भाव ही क्यों हुआ था। अठारहवीं शताब्दीमें तामसिक अज्ञान और घोर राजसिक प्रवृत्तिने भारत-वासियोंको ग्रस लिया था, देशमें हजारों स्वार्थपर, कर्तव्यविमुख, देशद्रोही, शक्तिमान् असुरप्रकृति मनुष्योंने जन्म ग्रहण कर परा-धीनताके अनुकूल अवस्थाको प्रस्तुत किया था। उसी समयमें भग-वान्‌की गूढ़ अभिसंधिको सफल करनेके लिये भारतमें सुदूर-द्वीपां-तरवासी अंगरेज वणिकोंका आविर्भाव हुआ था। पापभारार्त्त भारतवर्ष अनायास ही विदेशियोंके हाथमें चला गया। इस अद्-भुत घटनाका विचार मनमें आनेपर आज भी संसार आश्चर्यचकित हो जाता है। इस बातका कोई भी सन्तोषजनक समाधान न मिलनेके कारण सब लोग अंगरेज-जातिके गुणोंकी बहुत अधिक प्रशंसा करते हैं। अंगरेज-जातिके बहुतसे गुण हैं; अगर वे गुण न होते तो वह आज पृथिवीकी श्रेष्ठ दिग्विजयी जाति न हो पाती। किंतु जो लोग यह कहते हैं कि इस अद्‌भुत घटनाका

एकमात्र कारण भारतवासियोंकी निकृष्टता और अंगरेजोंकी श्रेष्ठता है, भारतवासियोंका पाप और अंगरेजोंका पुण्य है, उन लोगोंने, स्वयं पूर्णरूपेण भ्रान्त न होनेपर भी, लोगोंके मनमें कितनी ही भ्रान्त धारणाएं उत्पन्न की हैं। अतएव आइये, हम इस विषयमें सूक्ष्म रूपसे अनुसंधान कर इसकी सही-सही मीमांसा करनेकी चेष्टा करें। अतीतका सूक्ष्म अनुसंधान किये बिना भविष्यकी गतिका निर्णय करना दुःसाध्य है।

अंगरेजोंकी भारत-विजय जगत्के इतिहासमें एक अतुलनीय घटना है। यह वृहत् देश यदि किसी असभ्य, दुर्बल या निर्बोध और अक्षम जातिका वासस्थान होता तो फिर ऐसी बात नहीं कही जाती। किंतु भारतवर्ष राजपूत, मराठा, सिख, पठान, मुगल आदिका निवास-स्थान है; तीक्ष्णबुद्धि बंगाली, चिन्तनशील मद्रासी, राजनीतिज्ञ महाराष्ट्रीय ब्राह्मण भारतजननीके सन्तान हैं। अंगरेजोंकी विजयके समय नाना फड़नवीस-जैसे विचक्षण राजनीतिविद्, माधोजी सिंधिया-जैसे युद्धविशारद सेनापति, हैदर अली और रणजीतसिंह-जैसे तेजस्वी और प्रतिभाशाली राज्यनिर्माता प्रांत-प्रान्तमें उत्पन्न हुए थे। अठारहवीं शताब्दीमें भारतवासी तेजमें, शौर्यमें, बुद्धिमें किसी भी जातिकी अपेक्षा कम नहीं थे। अठारहवीं शताब्दीका भारत सरस्वतीका मंदिर, लक्ष्मीका भंडार, शक्तिका क्रीड़ास्थल था। फिर भी जिस देशको प्रबल और वर्धनशील मुसलमानोंने सैकड़ों वर्षतक प्रयास करके बड़े कष्टसे जीता था और जहां वे कभी भी निर्विघ्न शासन करनेमें समर्थ नहीं हुए, उसी देशने पचास वर्षके भीतर अनायास ही मुट्ठीभर अंगरेज बनियोंका आधि-

पत्य स्वीकार कर लिया, सौ वर्षके अन्दर उनके एकछत्र साम्राज्य-की छायामें निश्चेष्ट होकर वह सो गया! कोई कह सकता है कि एकताका अभाव इस परिणामका कारण है। हम स्वीकार करते हैं कि एकताका अभाव हमारी दुर्गतिका एक प्रधान कारण अवश्य है, पर भारतवर्षमें किसी भी समयमें एकता नहीं थी। महाभारत-के समयमें भी एकता नहीं थी, चन्द्रगुप्त और अशोकके समयमें भी नहीं थी, मुसलमानोंकी भारत-विजयके समय भी नहीं थी, अठा-रहवीं शताब्दीमें भी नहीं थी। एकताका अभाव ही इस अद्भुत घटनाका एकमात्र कारण नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि अंगरेजोंका पुण्य इसका कारण है तो हम यह पूछते हैं कि जो लोग उस समयका इतिहास जानते हैं वे क्या यह कहनेका साहस कर सकते हैं कि उस समयके अंगरेज वणिक उस समयके भारत-वासियोंकी अपेक्षा गुण और पुण्यमें श्रेष्ठ थे? जिन क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स प्रमुख अंगरेज वणिकों और दस्युओंने भारतभूमिको जीतकर और लूटकर जगत्में अतुलनीय साहस, उद्यमशीलता और आत्मंभरिता तथा जगत्में अतुलनीय दुर्गुणोंका भी दृष्टांत दिखाया था, उन्हीं निष्ठुर, स्वार्थपर, अर्थलोलुप, शक्तिमान् असुरोंके पुण्य-की बात सुनकर हंसी रोकना कठिन हो जाता है। साहस, उद्यम-शीलता, आत्मम्भरिता असुरका गुण है, असुरका पुण्य है, यह पुण्य क्लाइव आदि अंगरेजोंमें था। किंतु उनका पाप भारतवासियोंके पापसे तनिक भी न्यून नहीं था। अतएव अंगरेजोंके पुण्यसे यह अघटन घटना सिद्ध नहीं हुई थी।

उस समय अंगरेज भी असुर थे, भारतवासी भी असुर थे, उस

समय देवताओं और असुरोंमें युद्ध नहीं हुआ था, असुरों-असुरोंमें युद्ध हुआ था। तब भला पाश्चात्य असुरोंमें ऐसा कौनसा महान् गुण था जिसके प्रभावसे उनका तेज, शौर्य और बुद्धि सफल हुई और भारतीय असुरोंमें ऐसा कौनसा सांघातिक दोष था जिसके प्रभावसे उनका तेज, शौर्य और बुद्धि विफल हुई? पहला उत्तर यह है कि भारतवासी अन्य सभी गुणोंमें अंगरेजोंके समान होनेपर भी जातीय भावसे रहित थे, अंगरेजोंमें यह गुण पूर्ण विकासको प्राप्त हुआ था; परन्तु इसका अर्थ कोई यह न समझ बैठे कि अंगरेज लोग स्वदेशभक्त थे, स्वदेश-प्रेमकी प्रेरणासे भारतमें विराट् साम्राज्य स्थापित करनेमें समर्थ हुए थे। स्वदेशप्रेम और जातीय भाव दो स्वतंत्र वृत्तियां हैं। स्वदेशप्रेमी स्वदेशके सेवाभावसे उन्मत्त रहता है, सर्वत्र स्वदेशको देखता है, स्वदेशको इष्ट देवता मानकर अपने सभी कर्मोंको यज्ञरूपमें समर्पण कर देशके हितके लिये करता है, देशके स्वार्थमें अपने स्वार्थको डुबा देता है। अठारहवीं शताब्दीके अंगरेजोंमें यह भाव नहीं था; यह भाव किसी जड़वादी पाश्चात्य जातिके प्राणोंमें स्थायी रूपमें नहीं रह सकता। अंगरेज स्वदेशहितके लिये भारत नहीं आये थे, स्वदेशके हितके लिये उन्होंने भारतको नहीं जीता था, वे वाणिज्यके लिये, अपने-अपने आर्थिक लाभके लिये आये थे; स्वदेशके हितकी दृष्टिसे उन्होंने भारतको जीता और लूटा नहीं था, बहुत कुछ अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये जीता था। परन्तु स्वदेशप्रेमी न होनेपर भी वे जातीयभावापन्न थे। उनमें यह अभिमान था कि हमारा देश श्रेष्ठ है, हमारी जातिका आचार, विचार, धर्म, चरित्र, नीति, बल, विक्रम,

बुद्धि, मत, कर्म उत्कृष्ट है, अतुलनीय है तथा अन्य जातियोंके लिये दुर्लभ है; उनमें यह विश्वास था कि हमारे देशके हितमें हमारा हित है, हमारे देशके गौरवमें हमारा गौरव है, हमारे देशभाइयोंकी उन्नतिमें हमारी उन्नति है। जातीय भावका प्रधान लक्षण यह कर्तव्यबुद्धि है कि केवल अपना स्वार्थसाधन न कर उसके साथ-साथ हम अपने देशका स्वार्थ सिद्ध करेंगे, देशका मान, गौरव और उन्नतिके लिये युद्ध करना प्रत्येक देशवासीका कर्तव्य है, आवश्यक होनेपर उस युद्धमें निर्भय होकर प्राणविसर्जन करना वीरका धर्म है। जातीय भाव राजसिक भाव है और स्वदेशप्रेम सात्त्विक है। जो अपने 'अहं' को देशके 'अहं' में विलीन कर देता है वह आदर्श स्वदेशप्रेमी है; जो अपने 'अहं' को सम्पूर्ण रूपसे सुरक्षित रखते हुए उसके द्वारा देशके 'अहं' को वर्धित करता है वह जातीयभावापन्न है। उस समयके भारतवासी जातीय भावसे शून्य थे। अवश्य ही हमारे कहनेका अर्थ यह नहीं है कि वे कभी अपनी जातिका हित नहीं देखते थे; परन्तु जातिके और अपने हितके बीच जब जरा भी विरोध उत्पन्न होता तब वे प्रायः ही जातिके हितका त्याग कर अपने हितका सम्पादन करते थे। एकताके अभावकी अपेक्षा यह जातीयताका अभाव, हमारी रायमें, मारात्मक दोष है। पूर्ण जातीय भाव देशभरमें फैल जानेपर नाना प्रकारके भेदोंसे भरे हुए इस देशमें भी एकताका आना सम्भव है; केवल 'एकता चाहिये, एकता चाहिये' कहनेसे ही एकता नहीं आ सकती। यही अंगरेजोंकी भारत-विजयका प्रधान कारण है। असुर-असुरमें संघर्ष होनेपर जातीयभावापन्न, एकताप्राप्त असुरोंने जातीयभावशून्य,

एकताशून्य, समानगुणविशिष्ट असुरोंको पराजित कर दिया। विधाताका यही नियम है, जो दक्ष और शक्तिमान् होता है वही कुश्तीमें विजय प्राप्त करता है, जो क्षिप्रगति और सहिष्णु होता है वही दौड़में सबसे पहले गन्तव्य स्थानपर पहुंचता है। सच्चरित्र या पुण्यवान् होनेसे ही कोई दौड़ या कुश्तीमें विजयी नहीं होता, उपयुक्त शक्तिका होना आवश्यक है। उसी तरह जातीय भावका विकास होनेसे दुर्वृत्त और आसुरिक जाति भी साम्राज्य स्थापित करनेमें समर्थ होती है, जातीय भावका अभाव होनेपर सच्चरित्र और गुणसम्पन्न जाति भी पराधीन होकर, अन्तमें चरित्र और गुण खोकर अधोगतिको प्राप्त होती है।

राजनीतिकी दृष्टिसे यही भारत-विजयकी श्रेष्ठ मीमांसा है। किंतु इसमें एक और भी गभीर सत्य निहित है। मैं कह चुका हूं कि तामसिक अज्ञान और राजसिक प्रवृत्ति उस समय भारतमें बहुत प्रवल हो गयी थी। यह अवस्था पतनकी अग्रगामी अवस्था है। रजोगुणकी सेवासे राजसिक शक्तिका विकास होता है; किंतु अमिश्र रजोगुण शीघ्र ही तमोमुखी हो जाता है, उद्धत, शृंखला-विहीन राजसिक चेष्टा अति शीघ्र अवसन्न और श्रान्त होकर अप्र-वृत्ति, शक्तिहीनता, विषाद और निश्चेष्टतामें परिणत हो जाती है। सत्त्वमुखी होनेपर ही रजःशक्ति स्थायी होती है। सात्त्विक भाव यदि न भी हो तो सात्त्विक आदर्शका होना आवश्यक है; उस आदर्शके द्वारा रजःशक्ति सुशृंखलित होती और स्थायी बल प्राप्त करती है। स्वाधीनता और सुशृंखलता ये दो महान् सात्त्विक आदर्श अंगरेजोंके सामने सदासे हैं, उन्हींके बलसे अंगरेज जगत्में

सबसे प्रधान और चिरविजयी हुए हैं। उन्नीसवीं शताब्दीमें उस जातिके अन्दर परोपकारकी कामना भी जागृत हुई थी, उसके बलसे इंगलैण्ड जातीय महत्त्वकी चरमावस्थापर पहुंच गया था। इसके अतिरिक्त यूरोपकी जिस ज्ञानपिपासाकी प्रवल प्रेरणासे पाश्चात्य जातियोंने सैकड़ों वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं, कणमात्र ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सैकड़ों लोग प्राणतक देनेके लिये सम्मत होते हैं, वह वलीयसी सात्त्विक ज्ञानतृष्णा अंगरेजजातिके अन्दर विकसित हुई थी। इसी सात्त्विक शक्तिसे अंगरेज बलवान् थे, इसी सात्त्विक शक्तिके क्षीण होनेके कारण अंगरेजोंका प्राधान्य, तेज और विक्रम क्षीण हो रहा है तथा भय, विषाद और आत्मशक्तिके ऊपर अविश्वास बढ़ रहा है। सात्त्विक लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर उनकी रजःशक्ति तमोमुखी हो रही है। दूसरी ओर भारतवासी महान् सात्त्विक थे; उसी सात्त्विक बलसे ज्ञान, शौर्य, तेज और बलमें वे अतुलनीय हो रहे थे तथा एकताविहीन होनेपर भी हजारों वर्षोंसे विदेशी आक्रमणोंका प्रतिरोध और दमन करनेमें समर्थ हो रहे थे। अन्तमें जाकर उनमें रजःशक्तिकी वृद्धि और सत्त्वका ह्रास होने लगा। मुसलमानोंके आगमनके समय ज्ञानका विस्तार संकुचित होना आरंभ हो गया था, उस समय रजःप्रधान राजपूत-जाति भारतके सिंहासनपर आसीन थी; उत्तर भारतमें युद्ध-विग्रह, गृहकलहका प्राधान्य था, बंगदेशमें बौद्धधर्मकी अवनति होनेसे तामसिक भाव प्रबल हो रहा था। अध्यात्मज्ञानने दक्षिणमें आकर आश्रय ग्रहण किया था; उसी सत्त्वबलसे दक्षिण भारत बहुत दिनोंतक अपनी स्वाधीनताकी रक्षा करनेमें समर्थ हुआ था। धीरे-

धीरे ज्ञानपिपासा और ज्ञानकी उन्नति बन्द होने लगी, उसके स्थानमें पांडित्यका सम्मान और गौरव बढ़ गया, आध्यात्मिक ज्ञान, योगशक्तिके विकास और आन्तरिक उपलब्धिके स्थानमें तामसिक पूजा और सकाम राजसिक व्रतोद्यापनका बाहुल्य होने लगा, वर्णाश्रमधर्म लुप्त होनेपर लोगोंने बाह्य आचार और क्रियाको अधिक मूल्यवान् समझना आरंभ कर दिया। इसी प्रकार जातिधर्मका लोप हो जानेसे ग्रीस, रोम, मिस्र, आसीरिया आदिकी मृत्यु हो गयी थी; किंतु सनातनधर्मावलम्बी आर्यजातिके अन्दर उसी सनातन मूल स्रोतसे बीच-बीचमें संजीवनी सुधाधारा निकलकर जातिकी प्राणरक्षा किया करती थी। शंकर, रामानुज, चैतन्य, नानक, रामदास, तुकारामने उसी अमृतका सिंचन कर मरणाहत भारतमें प्राणका संचार किया था। फिर भी रजः और तमःके स्रोतमें इतना बल था कि उसके बहावमें आकर उत्तम भी अधम बन गया; साधारण लोग शंकरप्रदत्त ज्ञानके द्वारा तामसिक भावका समर्थन करने लगे, चैतन्यका प्रेमधर्म घोर तामसिक निश्चेष्टताका आश्रयस्थल बन गया, रामदासकी शिक्षा पाये हुए महाराष्ट्र लोगोंने महाराष्ट्र-धर्मको भूलकर, स्वार्थसाधन और गृहकलहमें अपनी शक्तिका अपव्यय कर, शिवाजी तथा बाजीरावद्वारा प्रतिष्ठित साम्राज्यको नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। अठारहवीं शताब्दीमें इस स्रोतका पूर्ण वेग दिखायी दिया था। समाज और धर्म उस समय कुछ विधानदाताओंकी क्षुद्र सीमामें आबद्ध था, बाहरी आचार और क्रियाका आडम्बर धर्मके नामसे अभिहित होता था, आर्यज्ञान प्रायः लुप्त हो गया था, आर्यचरित्र प्रायः नष्ट हो गया था, सनातनधर्म समाजका

परित्याग कर संन्यासीकी अरण्य-कुटी और भक्तके हृदयमें जा छिपा था। भारत उस समय घोर तमके अंधकारसे आच्छन्न था। अथच प्रचण्ड राजसिक प्रवृत्ति बाहरी धर्मके परदेके नीचे स्वार्थ, पाप, देशका अमंगल, दूसरोंका अनिष्ट पूर्ण वेगके साथ साधित कर रही थी। देशमें शक्तिका अभाव नहीं था, परन्तु आर्यधर्मका, सत्त्वका लोप हो जानेके कारण वह शक्ति आत्मरक्षा करनेमें असमर्थ हुई और आत्मविनाशको प्राप्त हुई। अन्तमें अंगरेजोंकी आसुरिक शक्तिसे पराजित होकर भारतकी आसुरिक शक्ति शृंखलित और मुमूर्षु हो गयी। भारत पूर्ण तमोभावके क्रोड़में निद्रित हो गया। अप्रकाश, अप्रवृत्ति, अज्ञान, अकर्मण्यता, आत्मविश्वासका अभाव, आत्मसम्मानका विसर्जन, दासत्वप्रियता, परधर्मसेवा, परानुकरण, पराश्रय ग्रहण कर आत्मोन्नतिकी चेष्टा करना, विषाद, आत्मनिन्दा, क्षुद्राशयता, आलस्य इत्यादि जो तमोभावके सूचक गुण हैं, उनमेंसे भला उन्नीसवीं शताब्दीमें भारतमें किस गुणका अभाव था? उस शताब्दीके सभी प्रयास इन गुणोंके प्राबल्यके कारण तमःशक्तिके चिह्नसे सर्वत्र चिह्नित हैं।

भगवान्‌ने जब भारतको जगाया तब उस जागरणके प्रथम आवेगसे जातीय भावके उद्दीपनकी ज्वालामयी शक्ति जातिकी प्रत्येक शिरामें द्रुततर वेगसे प्रवाहित होने लगी। उसके साथ-साथ स्वदेशप्रेमके उन्मत्तकारी आवेगने युवकोंको अभिभूत कर लिया। हम पाश्चात्य-देशवासी नहीं हैं, हम एशियावासी हैं, हम भारतवासी हैं, हम आर्य हैं। हमने जातीय भाव प्राप्त किया है, किंतु उसमें स्वदेशप्रेमका संचार हुए बिना हमारा जातीय भाव प्रस्फुटित नहीं

होता। उस स्वदेशप्रेमका आधार मातृपूजा है। जिस दिन बंकिम-चन्द्रके 'वन्दे मातरम्' गानने बाह्येन्द्रियको अतिक्रम कर हमारे प्राणोंको आघात किया, उसी दिन हमारे हृदयमें स्वदेशप्रेम जग उठा, मातृ-मूर्त्ति प्रतिष्ठित हो गयी। स्वदेश माता है, स्वदेश भग-वान् है, यही वेदान्तशिक्षान्तर्गत महती शिक्षा जातीय अभ्युत्थानका बीज है। जैसे जीव भगवान्का अंश है, उसकी शक्ति भगवान्की शक्तिका अंश है, वैसे ही यह सात कोटि बंगवासियोंका, तीस कोटि भारतवासियोंका समुदाय सर्वव्यापी वासुदेवका अंश है, इन तीस कोटि मनुष्योंकी आश्रयदायिनी, शक्तिस्वरूपिणी, बहुभुजान्विता, बहुबलधारिणी भारतजननी भगवान्की एक शक्ति हैं; माता देवी, जगज्जननी कालीकी देहविशेष हैं। इसी मातृप्रेम, मातृ-मूर्त्तिको जातिके मन और प्राणमें जागरित और प्रतिष्ठित करनेके लिये इन कुछ वर्षोंकी उत्तेजना, परिश्रम, कोलाहल, अपमान, लांछना और निर्यातनका विधान भगवदिच्छाके अनुसार हुआ था। वह कार्य पूरा हो गया है। अब उसके बाद क्या होगा?

उसके बाद अब आर्यजातिकी सनातन शक्तिका पुनरुद्धार करना होगा। पहले, आर्यचरित्र और आर्यशिक्षाको आयत्त करना होगा, दूसरे, योगशक्तिका पुनर्विकास करना होगा, तीसरे, आर्योचित ज्ञान-पिपासा और कर्मशक्तिके द्वारा नवयुगके लिये आवश्यक सामग्रीका संचय करना होगा तथा इन कुछ वर्षोंकी उन्मादिनी उत्तेजनाको सुश्रृंखलित कर और स्थिर लक्ष्यकी ओर मोड़कर मातृकार्यका सम्पादन करना होगा। आजकल देशभरमें जो युवक पथान्वेषण और कर्मान्वेषण कर रहे हैं, वे उत्तेजनाको अतिक्रम कर कुछ

दिनोंतक शक्तिसंचय करनेका पथ ढूंढ़ निकालें। जिस महत् कार्य-को सम्पन्न करना है वह केवल उत्तेजनाके द्वारा नहीं सम्पादित हो सकता, उसके लिये शक्तिकी आवश्यकता है। ऐ युवको! तुम लोगोंके पूर्वपुरुषोंकी शिक्षाका अनुसरण करनेसे जिस शक्तिको प्राप्त किया जाता है वह शक्ति अघटनघटनपटीयसी हैं। वह शक्ति तुम्हारे शरीरमें अवतरण करनेके लिये उद्यत हो रही हैं। वह शक्ति ही मां हैं। उन्हें आत्मसमर्पण करनेका उपाय सीख लो। मां तुम लोगोंको यंत्र बनाकर इतना शीघ्र, इतने बलके साथ कार्य सम्पन्न करेंगी कि जगत् स्तम्भित हो जायगा। उस शक्तिके बिना तुम्हारे सारे प्रयास विफल हो जायंगे। मातृमूर्त्ति तुम्हारे हृदयमें प्रतिष्ठित हो गयी है, तुमने मातृपूजा और मातृसेवा करना सीख लिया है, अब अन्तर्निहित माताको आत्मसमर्पण करो। कार्य-सिद्धिका दूसरा कोई पथ नहीं है।

स्वाधीनताका अर्थ

हमारी राजनीतिक चेष्टाका उद्देश्य स्वाधीनता है, परन्तु इस बातपर मतभेद हो रहा है कि यह स्वाधीनता क्या वस्तु है। बहुत-से लोग स्वायत्त शासनको स्वाधीनता कहते हैं, बहुतसे लोग औप-निवेशिक स्वराज्यको कहते हैं और बहुतसे लोग संपूर्ण स्वराज्यको कहते हैं। आर्य ऋषि सम्पूर्ण व्यावहारिक और आध्यात्मिक स्वा-धीनता तथा उसके फलस्वरूप अक्षुण्ण आनन्दको स्वाराज्य कहा करते थे। राजनीतिक स्वाधीनता स्वाराज्यका एक अंग मात्र है— उसकी दो पीठें हैं, बाह्य स्वाधीनता और आन्तरिक स्वाधीनता। विदेशी शासनसे पूर्ण मुक्ति बाह्य स्वाधीनता है, प्रजातंत्र आन्तरिक स्वाधीनताका चरम विकास है। जितने दिनतक दूसरेका शासन या राज्य रहता है उतने दिनतक किसी जातिको स्वराज्यप्राप्त स्वाधीन जाति नहीं कहा जाता। जितने दिनतक प्रजातंत्र नहीं स्थापित हो जाता उतने दिनतक जातिके अन्दरकी प्रजाको स्वाधीन मनुष्य नहीं कहा जाता। हम पूर्ण स्वाधीनता चाहते हैं; हमारा राजनीतिक लक्ष्य है विदेशी आदेश और बंधनसे पूर्ण मुक्ति तथा अपने घरमें प्रजाका पूर्ण आधिपत्य।

अब हम संक्षेपमें यह बतलायेंगे कि हमारी इस आकांक्षाका कारण क्या है। जातिके लिये पराधीनता मृत्युका दूत और आज्ञा-पालक है, स्वाधीनतामें ही उसके जीवनकी रक्षा होती है, स्वा-

धीनतामें उसकी उन्नतिकी संभावना रहती है। स्वधर्म अर्थात् स्वभावनियत जातीय कर्म और प्रयासमें लगे रहना जातीय उन्नतिका एकमात्र पथ है। विदेशी यदि देशको अधिकृत कर अत्यन्त दयालु और हितैषी भी बने रहें तो भी वे हमारे सिरपर परधर्मका बोझ लादे विना नहीं छोड़ेंगे। उनका उद्देश्य चाहे भला हो या बुरा, उससे हमारे अहितके सिवा हित नहीं होगा। दूसरेके स्वभावनियत पथपर चलनेकी शक्ति और प्रेरणा हममें नहीं है, उस पथपर चलनेसे हम वहुत सुन्दर रूपमें उसका अनुकरण कर सकते ह, उसकी उन्नतिके लक्षण और वेशभूषाके अन्दर वड़ी दक्षताके साथ अपनी अवनतिको आच्छादित कर सकते हैं, परन्तु परीक्षाके समय परधर्मसेवासे उत्पन्न हमारी दुर्बलता और सारहीनता विकसित होगी और हम भी उस सारहीनताके कारण विनाशको प्राप्त होंगे। रोमके आधिपत्यमें रहकर, रोमकी सभ्यता प्राप्त कर यूरोपकी प्राचीन जातियोंने वहुत दिनोंतक सुख और स्वच्छन्दताके साथ जीवन यापन तो किया, परन्तु उनकी अन्तिम अवस्था वड़ी ही भयानक हो गयी, मनुष्यत्वका विनाश होनेसे उनकी जो घोर दुर्दशा हुई, प्रत्येक पराधीनतापरायण जातिके उसी मनुष्यत्व-विनाश और घोर दुर्दशाका होना अवश्यम्भावी है। पराधीनताका प्रधान आधार है जातिका स्वधर्मनाश और परधर्मसेवा, यदि पराधीन अवस्थामें हम स्वधर्मकी रक्षा कर सकें या स्वधर्मको पुनरुज्जीवित कर सकें तो फिर पराधीनताका वंधन अपने-आप खुल जायगा—यह प्रकृतिका अलंघनीय नियम है। अतएव यदि कोई जाति अपने दोषसे पराधीनतामें जा पड़े तो अविकल और पूर्णांग स्वराज्य ही

उसका प्रथम उद्देश्य और राजनीतिक आदर्श होना चाहिये। औपनिवेशिक स्वायत्त शासन स्वराज्य नहीं है, पर, यदि विना शर्त्त पूरा-पूरा अधिकार दिया जाय और जाति आदर्शभ्रष्ट तथा स्वधर्मभ्रष्ट न हो तो वह स्वराज्यकी अनुकूल और पूर्ववर्ती अवस्था हो सकता है। आजकल यह बात उठायी गयी है कि ब्रिटिश साम्राज्यसे वाहरकी स्वाधीनताकी आशा करना धृष्टताका परिचायक और राजद्रोहका सूचक है, जो लोग औपनिवेशिक स्वायत्त शासनसे संतुष्ट नहीं हैं, वे लोग निश्चय ही राजद्रोही, राष्ट्र-विप्लवी हैं और सब प्रकारके राजनीतिक कार्योंसे अलग रखे जाने योग्य हैं। किंतु उस तरहकी आशा और आदर्शके साथ राजद्रोहका कोई सम्बन्ध नहीं। अंगरेजी राजत्वके आरंभसे ही बड़े-बड़े अंगरेज राजनीतिज्ञ यह कहते आ रहे हैं कि उस तरहकी स्वाधीनता अंगरेज राजपुरुषोंका भी उद्देश्य है, अब भी अंगरेज विचारक मुक्त कण्ठसे कह रहे हैं कि स्वाधीनताके आदर्शका प्रचार करना और स्वाधीनता प्राप्त करनेकी वैध चेष्टा करना कानूनके अनुसार उचित और दोषरहित है। परन्तु हमारी स्वाधीनता ब्रिटिश साम्राज्यसे बाहर होकर या उसके भीतर रहकर होगी—इस प्रश्नकी मीमांसा करना जातीय दल कभी आवश्यक नहीं समझता। हम पूर्ण स्वराज्य चाहते हैं। यदि ब्रिटिश जाति एक ऐसे युक्त साम्राज्यकी व्यवस्था करे जिसके भीतर रहकर भारतवासी वैसा ही स्वराज्य पा सकें तो फिर उसमें आपत्ति ही क्या है? अंगरेज-जातिके प्रति विद्वेष होनेके कारण हम स्वराज्यकी चेष्टा नहीं करते, हम देशकी रक्षाके लिये करते हैं। ० परन्तु हम पूर्ण स्वराज्यके अतिरिक्त अन्य

किसी आदर्शको स्वीकार कर देशवासियोंको मिथ्या राजनीति और देशरक्षाका गलत मार्ग दिखानेके लिये प्रस्तुत नहीं हैं।

देश और जातीयता

देश ही जातीयताकी प्रतिष्ठा-भूमि है, जाति नहीं है, धर्म नहीं है, और कुछ भी नहीं है, एकमात्र देश है। और जितने भी जातीयताके उपकरण हैं वे सब गौण और उपयोगी हैं, देश ही मुख्य और आवश्यक है। बहुतसी परस्परविरोधी जातियां एक देशमें निवास करती हैं, उनमें कभी भी सद्भाव, एकता, मैत्री नहीं थी, परन्तु इसमें भयकी क्या बात है? जब एक देश है, एक मां है, तब एक दिन एकता आयेगी ही, अनेक जातियोंके मिलनेसे एक बलवान् अजेय जाति उत्पन्न होगी ही। धर्ममत एक नहीं है, संप्रदाय-संप्रदायमें चिर-विरोध है, मेल नहीं है, मेलकी आशा भी नहीं है, तथापि भयकी कोई बात नहीं, एक दिन स्वदेशमूर्त्तिधारिणी मांके प्रबल आकर्षणसे, छल, बल, साम, दण्ड और दानसे मेल होकर ही रहेगा, साम्प्रदायिक विभिन्नता भ्रातृभावमें, भ्रातृप्रेममें डूब जायगी। एक देशमें विभिन्न भाषाएं हैं, भाई भाईकी बात समझनेमें असमर्थ है, हम एक दूसरेके भावमें प्रवेश नहीं कर पाते, हृदयमें हृदयके आबद्ध होनेके पथमें अभेद्य प्राचीर खड़ी हुई है, बड़े कष्टसे उसे पार करना होता है, तथापि डरनेकी कोई बात नहीं; एक देश, एक जीवन, एक विचारकी धारा सबके मनमें प्रवाहित होगी ही, प्रयोजनकी प्रेरणासे एक भाषाकी सृष्टि होगी ही, या तो वर्तमान किसी भाषाका आधिपत्य स्वीकृत होगा, या एक नयी

भाषाकी सृष्टि होगी, मांके मन्दिरमें सब लोग उसी भाषाका व्यवहार करेंगे। इन सब बाधाओंसे सर्वदा कार्य नहीं रुकता, मांका प्रयोजन, मांका आकर्षण, मांके प्राणोंकी कामना विफल नहीं होती, वह सभी बाधाओं और सभी विरोधोंको अतिक्रम करती है, विनष्ट करती है, विजयी होती है। एक मांके गर्भसे जन्म हुआ है, एक मांकी गोदीमें निवास करते हैं, एक मांके पंचभूतमें मिल जाते हैं, हम आन्तरिक सहस्र विवाद होनेपर भी मांकी पुकारपर एक हो जायंगे। प्राकृतिक नियम यही है, सभी देशोंके इतिहासकी शिक्षा यही है, देश ही जातीयताकी प्रतिष्ठाभूमि है, वह सम्बन्ध अव्यर्थ है, स्वदेश रहनेपर जातीयताका आना अवश्यम्भावी है। एक देशमें दो जातियां चिरकाल नहीं रह सकतीं, मिलन होगा ही। दूसरी ओर यदि एक देश न हो, जाति, धर्म, भाषा एक भी हो तो भी उससे कोई लाभ नहीं, एक दिन एक स्वतंत्र जातिकी सृष्टि होगी ही। स्वतंत्र-स्वतंत्र देशोंको युक्त कर एक बृहत् साम्राज्य बनाया जा सकता है, पर एक बृहत् जाति नहीं बन सकती। साम्राज्य ध्वंस हो जानेपर फिरसे स्वतंत्र जाति उत्पन्न होती है, बहुत बार वह अन्तर्निहित स्वाभाविक स्वतन्त्रता ही साम्राज्यनाशका कारण हो जाती है।

परन्तु यह फल अवश्यम्भावी होनेपर भी मनुष्यके प्रयाससे, मनुष्यकी बुद्धिसे या बुद्धिके अभावसे, वह अवश्यम्भावी प्राकृतिक क्रिया शीघ्र या देरसे फलवती होती है। हमारे देशमें कभी भी एकता नहीं हुई, परन्तु चिरकाल एकताकी ओर एक झुकाव था, प्रवाह था, हमारे इतिहासने भारतके विभिन्न अंगोंको एक करनेके

लिये आकर्षित किया है। इस प्राकृतिक प्रयासकी कुछ प्रधान बाधाएं थीं; पहली बाधा थी प्रादेशिक विभिन्नता, दूसरी थी हिन्दू-मुसलमानका विरोध और तीसरी थी मातृदर्शनका अभाव। देश-का बृहत् आकार, यातायातकी कठिनाई और विलम्ब, भाषाकी विभिन्नता इत्यादि प्रादेशिक विभिन्नताके प्रधान सहायक हैं। शेषोक्त बाधाके अतिरिक्त अन्य सभी बाधाएं आधुनिक वैज्ञानिक सुविधा-ओंके कारण निस्तेज हो गयी हैं। हिन्दू-मुसलमानका विरोध होने-पर भी अकबर भारतको एक करनेमें समर्थ हुए थे, यदि औरंग-जेब निकृष्ट बुद्धिके वश न होता तो कालके माहात्म्यसे, अभ्यासके वश, विदेशियोंके आक्रमणके भयसे, इंगलैंडके कैथलिक और प्रोटे-स्टेण्टोंकी तरह भारतमें भी हिन्दू और मुसलमान सदाके लिये एक हो जाते। औरंगजेबकी बुद्धिके दोषसे तथा कुछ आधुनिक कूट-बुद्धि अंगरेज राजनीतिज्ञोंकी प्ररोचनासे वह विरोध प्रज्वलित होकर अब बुझना ही नहीं चाहता। परन्तु प्रधान बाधा है मातृदर्शनका अभाव, हमारे प्रायः सभी राजनीतिज्ञ मांके सम्पूर्ण स्वरूपका दर्शन करनेमें असमर्थ थे। रणजीत सिंह या गुरु गोविन्दने भारतमाता-को न देख पंचनद-माताको देखा था। शिवाजी और बाजीरावने भारतमाताको न देख हिन्दुओंकी माताको देखा था। अन्यान्य महाराष्ट्रीय राजनीतिज्ञोंने महाराष्ट्र-माताको देखा था। हमने भी बंगभंगके समय बंगमाताका दर्शन प्राप्त किया था—वह दर्शन अखंड दर्शन था, अतएव बंगदेशकी भावी एकता और उन्नति अवश्यम्भावी है, किंतु भारतमाताकी अखण्ड मूर्त्ति अभी भी प्रकट नहीं हुई है। कांग्रेसमें हम नाना प्रकारके स्तव-स्तोत्रोंके द्वारा जिस भारतमाताकी

पूजा करते थे वह कल्पित थी, अंगरेजोंकी सहचरी और प्रिय दासी थी, म्लेच्छवेशभूषासज्जित दानवी माया थी, वह हमारी मां नहीं थी, उसके पीछे निविड़ अस्पष्ट आलोकमें छिपी हुई हमारी सच्ची मां हमारे मन-प्राणको आकर्षित करती थी। जिस दिन हम अखण्डस्वरूप मातृमूर्त्तिके दर्शन करेंगे, उसके रूपलावण्यसे मुग्ध हो-कर उसके कार्यमें जीवन उत्सर्ग करनेके लिये उन्मत्त हो जायंगे, उस दिन यह बाधा तिरोहित हो जायगी, भारतकी एकता, स्वा-धीनता और उन्नति सहजसाध्य हो जायगी। उस समय भाषा-भेदके कारण कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी, सब लोग अपनी-अपनी मातृभाषाकी रक्षा करते हुए साधारण भाषाके रूपमें हिन्दी-भाषाको ग्रहण करेंगे और वह बाधा दूर हो जायगी। उस समय हम हिन्दू-मुसलमानके भेदकी भी वास्तविक मीमांसा कर सकेंगे। मातृदर्शनके अभावमें उस बाधाको दूर करनेकी बलवती इच्छा न होनेके कारण ही कोई उपाय नहीं सूझता, विरोध तीव्र ही होता जा रहा है। परन्तु अखण्ड स्वरूप चाहिये, यदि हम हिन्दूकी माता, हिन्दू जातीयताकी नींवके रूपमें मातृदर्शनकी आकांक्षाका पोषण करें तो फिर उसी पुराने भ्रममें पतित होकर जातीयताके पूर्ण विकाससे वंचित हो जायंगे।

हमारी आशा

हमें बाहुबल नहीं है, हमारे पास युद्धका उपकरण नहीं है, हम शिक्षित नहीं हैं, हमारे पास राजशक्ति नहीं है, हमें किस चीजकी आशा है, कहां वह बल है जिसके भरोसे हम ऐसा कार्य सिद्ध करनेका प्रयास कर रहे हैं जो प्रबल, शिक्षित यूरोपीय जातिके लिये भी असाध्य है? पंडित और विज्ञ व्यक्ति कहते हैं कि यह बालकोंकी उद्दाम दुराशा है, उच्च आदर्शके मदमें उन्मत्त हुए अविवेकी लोगोंका सारहीन स्वप्न है, युद्ध ही स्वाधीनता प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है और हम युद्ध करनेमें असमर्थ हैं। हम स्वीकार करते हैं कि हम युद्ध करनेमें असमर्थ हैं, हम भी युद्ध करनेका परामर्श नहीं देते। परन्तु क्या यह सत्य है कि बाहुबल ही शक्तिका आधार है? अथवा शक्ति और भी गूढ़, गभीर मूलसे प्रवाहित होती है? यह बात सब लोग स्वीकार करनेके लिये बाध्य हैं कि एकमात्र बाहुबलसे कोई भी विराट् कार्य साधित होना असंभव है। यदि दो परस्परविरोधी, समानबलशाली शक्तियोंका संघर्ष हो तो जिसमें नैतिक और मानसिक बल अधिक होगा,—जिसका ऐक्य, साहस, अध्यवसाय, उत्साह, दृढ़ प्रतिज्ञा, स्वार्थत्याग उत्कृष्ट होगा—जिसमें विद्या, बुद्धि, कुशलता, तीक्ष्ण दृष्टि, दूरदर्शिता, उपाय उद्‌भावन करनेकी शक्ति विकसित होगी, उसीकी विजय निश्चित रूपसे होगी। यहांतक कि बाहुबलमें, संख्यामें,

उपकरणमें जो अपेक्षाकृत हीन होगा वह भी नैतिक और मानसिक वलके उत्कर्षके सहारे प्रवल प्रतिद्वन्द्वीको हटा सकता है। इसका दृष्टांत इतिहासके प्रत्येक पृष्ठपर लिखा हुआ है। अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि वाहुवलकी अपेक्षा नैतिक और मानसिक वलका गुरुत्व तो अधिक है, पर वाहुवल न होनेपर नैतिक और मानसिक बलकी रक्षा कौन करेगा? वात ठीक है। परन्तु यह भी देखा गया है कि दो चिन्तनप्रणालियों, दो सम्प्रदायों, दो परस्परविरोधी सभ्यताओंमें संघर्ष होनेपर जिस पक्षकी ओर वाहुवल, राजशक्ति, युद्धका उपकरण इत्यादि उपाय पूर्ण मात्रामें थे उसकी हार हो गयी और जिस पक्षकी ओर ये सब उपाय विलकुल नहीं थे उसकी जीत हो गयी। इस तरह फलकी विपरीतता क्यों होती है? **'यतो धर्मस्ततो जयः'**—जहां धर्म होता है वहीं विजय रहती है, परन्तु धर्मके पीछे शक्ति भी होनी चाहिये, अन्यथा अधर्मका अभ्युत्थान और धर्मकी ग्लानि स्थायी रूपसे बनी रह सकती हैं। विना कारण कोई कार्य नहीं होता। जयका कारण शक्ति है। किस शक्तिसे दुर्बल पक्षकी जीत होती है और प्रवल पक्षकी शक्ति पराजित या विनष्ट होती है? अगर हम ऐतिहासिक दृष्टांतोंकी परीक्षा करके देखें तो हमें मालूम होगा कि आध्यात्मिक शक्तिके बलसे यह अघटन घटित होता है, आध्यात्मिक शक्ति ही वाहुवलको तुच्छ बनाकर मानवजातिको यह वतलाती है कि यह जगत् भगवान्का राज्य है, अंध स्थूल प्रकृतिका लीलाक्षेत्र नहीं है। शुद्ध आत्मा शक्तिका मूल स्रोत है, जो आद्याप्रकृति आकाशमें असंख्य सूर्योंको घुमाया करती है, अंगुलीस्पर्शके द्वारा पृथ्वीको हिलाकर

मानवसृष्ट पूर्व गौरवके चिह्नोंका ध्वंस करती है, वह आद्याप्रकृति शुद्ध आत्माके अधीन है। वह प्रकृति असंभवको संभव करती है, मूकको वाचाल करती है, पंगुको गिरि-लंघनकी शक्ति देती है। समस्त जगत् उस शक्तिकी सृष्टि है। जिसकी आध्यात्मिक शक्ति विकसित होती है उसकी विजयके उपकरण स्वयं ही उत्पन्न होते हैं, बाधा-विपत्तियां स्वयं ही दूर होकर अनुकूल अवस्था ले आती हैं, कार्य करनेकी क्षमता स्वयं ही प्रस्फुटित होकर तेजस्विनी और क्षिप्रगति होती है। यूरोप आजकल इस Soul-force या आध्यात्मिक शक्तिका आविष्कार कर रहा है, अभी भी उसमें उसका पूर्ण विश्वास नहीं है, उसके भरोसेपर कार्य करनेकी प्रवृत्ति उसमें नहीं होती। किंतु भारतकी शिक्षा, सभ्यता, गौरव, बल, महत्त्वका मूल यह आध्यात्मिक शक्ति ही है। जब-जब ऐसी अवस्था उत्पन्न हुई कि लोगोंको यह विश्वास होने लगा कि भारतजातिके विनाशका काल निकट आ गया है, तब-तब आध्यात्मिक शक्तिने गुप्त मूल स्रोतसे तीव्र गतिके साथ प्रवाहित होकर मुमूर्षु भारतको पुनरुज्जीवित किया है और सभी उपयोगी शक्तियोंकी सृष्टि भी की है। अभी भी वह मूल स्रोत सूख नहीं गया है, आज भी उस अद्भुत मृत्युंजय शक्तिकी क्रीड़ा हो रही है।

किंतु स्थूल जगत्‌की सभी शक्तियोंका विकास समयसापेक्ष होता है, अवस्थाके उपयुक्त क्रमके अनुसार, समुद्रके ज्वार-भाटेकी तरह घटता बढ़ता हुआ अन्तमें पूर्णरूपेण सफल होता है। हमारे अन्दर भी वही हो रहा है। अभी पूर्ण भाटेका समय है, हम ज्वारके मुहूर्त्तकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। महापुरुषोंकी तपस्या, स्वार्थ-

त्यागियोंका कष्ट स्वीकार करना, साहसी लोगोंका आत्मविसर्जन, योगियोंकी योगशक्ति, ज्ञानियोंका ज्ञानसंचार, साधुओंकी शुद्धता ही आध्यात्मिक शक्तिका मूल स्रोत है। एक बार नाना प्रकारके इन पुण्योंने भारतको संजीवनी सुधामें डुबाकर मृत जातिको जीवित, बलिष्ठ और तेजस्वी बनाया था, फिरसे वही तपोवल अपने अन्दर निरुद्ध होनेके कारण अदम्य, अजेय होकर बाहर निकलनेके लिये उद्यत हुआ है। इन कुछ वर्षोंके निपीड़न, दुर्बलता और पराजय-के फलस्वरूप भारतवासी अपने अन्दर शक्तिका मूल स्रोत खोज निकालना सीख रहे हैं। वक्तृताकी उत्तेजनासे नहीं, म्लेच्छदत्त विद्यासे नहीं, सभा-समितिकी भावसंचारिणी शक्तिसे नहीं, समाचारपत्रोंकी क्षणस्थायी प्रेरणासे नहीं, अपने अन्दर आत्माकी विशाल नीरवतामें भगवान् और जीवके संयोगसे जो गभीर, अविचलित, अभ्रान्त, शुद्ध, सुख-दुःख-विजयी, पाप-पुण्यवर्जित शक्ति संभूत होती है, वही महासृष्टिकारिणी, महाप्रलयंकरी, महास्थितिशालिनी, ज्ञान-दायिनी महासरस्वती, ऐश्वर्यदायिनी महालक्ष्मी, शक्तिदायिनी महा-काली, वही सहस्रतेजसंयोजनद्वारा एकीभूत चण्डी प्रकट होकर भारतके कल्याणके लिये और जगत्के कल्याणके लिये प्रयास करेगी। भारतकी स्वाधीनता केवल गौण उद्देश्य है, मुख्य उद्देश्य है भारतकी सभ्यताकी शक्तिको दिखाना और जगत्भरमें उस सभ्यताको फैलाकर उसका आधिपत्य स्थापित करना। अगर हम पाश्चात्य सभ्यताके बलपर, सभा-समितिके बलपर, वक्तृताके जोरसे, बाहुबलसे स्वा-धीनता या स्वायत्त शासन प्राप्त कर सकते तो उससे वह मुख्य उद्देश्य न साधित होता। भारतीय सभ्यताके बलपर, आध्यात्मिक

शक्तिसे, आध्यात्मिक शक्तिद्वारा सृष्ट सूक्ष्म और स्थूल उपायोंसे स्वाधीनता प्राप्त करना होगा। इसीलिये भगवान्‌ने हमारे पाश्चात्य-भावापन्न आन्दोलनको नष्ट कर वहिर्मुखी शक्तिको अन्तर्मुखी कर दिया है। ब्रह्म-बांधव उपाध्यायने दिव्य दृष्टिसे जो कुछ देखा था, उसे देखकर बार-बार वह कहते, शक्तिको अन्तर्मुखी करो, परन्तु समयके दोषसे उस समय कोई उसे कर न सका, स्वयं भी वह नहीं कर सके, किंतु उसे ही आज भगवान्‌ने स्वयं कर दिया है। भारतकी शक्ति अन्तर्मुखी हो गयी है। जब फिर बहिर्मुखी होगी तब फिर वह स्रोत नहीं मुड़ेगा, कोई उसे रोक न सकेगा। वह त्रिलोकपावनी गंगा भारतको परिप्लावित कर, पृथ्वीको परिप्लावित कर अपने अमृतस्पर्शसे जगत्‌को नवीन यौवन प्रदान करेगी।

प्राच्य और पाश्चात्य

हमारे देश और यूरोपमें प्रधान भेद यह है कि हमारा जीवन अन्तर्मुखी होता है और यूरोपका जीवन वहिर्मुखी होता है। हम भावका आश्रय कर पाप-पुण्य इत्यादिका विचार करते हैं और यूरोप कर्मका आश्रय कर पाप-पुण्य इत्यादिका विचार करता है। हम भगवान्‌को अन्तर्यामी और आत्मस्थ समझकर उन्हें अपने भीतर खोजते हैं और यूरोप भगवान्‌को जगत्‌का राजा समझकर उन्हें बाहर देखता और उपासना करता है। यूरोपका स्वर्ग स्थूल जगत्‌में है, पृथ्वीका ऐश्वर्य, सौंदर्य, भोगविलास उसके लिये आदरणीय और अन्वेषणीय ह; यदि वह अन्य स्वर्गकी कल्पना करता है तो वह इस पार्थिव ऐश्वर्य, सौंदर्य और भोगविलासकी ही प्रतिमूर्त्ति होता है, उसके भगवान् हमारे इन्द्रके समान हैं, पार्थिव राजाकी तरह रत्नमय सिंहासनपर बैठकर, हजारों वन्दनाकारियोंकी स्तुतिसे फूलकर विश्वका साम्राज्य चलाते हैं। हमारे शिव परमेश्वर हैं, फिर भी भिक्षुक, पागल, भोलानाथ हैं; हमारे कृष्ण बालक हैं, हास्यप्रिय, रंगमय, प्रेममय हैं, क्रीड़ा करना उनका धर्म है। यूरोपके भगवान् कभी नहीं हंसते, क्रीड़ा नहीं करते, ऐसा करनेसे उनका गौरव नष्ट होता है, उनका ईश्वरत्व चला जाता है। वही वहिर्मुखी भाव इसका कारण है—ऐश्वर्यका चिह्न उसके ऐश्वर्यका आधार है, चिह्न देखे विना उसे वस्तु नहीं दिखायी पड़ती, उसे

दिव्य चक्षु नहीं है, सूक्ष्म दृष्टि नहीं है, सब स्थूल है। हमारे शिव भिक्षुक हैं, किंतु तीनों लोकोंका सारा धन और ऐश्वर्य थोड़ेमें ही साधकोंको दे देते हैं—वह भोलानाथ हैं, किंतु ज्ञानियोंके लिये जो अप्राप्य ज्ञान है वह उनकी स्वभावसिद्ध सम्पत्ति है। हमारे प्रेममय, रंगप्रिय श्यामसुन्दर कुरुक्षेत्रके नायक हैं, जगत्के पिता, अखिल ब्रह्माण्डके सखा और सुहृद् हैं। भारतका विराट् ज्ञान, तीक्ष्ण सूक्ष्म दृष्टि, अप्रतिहत दिव्य चक्षु स्थूल आवरणको भेद कर आत्मस्थ भाव, वास्तविक सत्य, अन्तर्निहित गूढ़तत्त्व बाहर निकाल लाता है।



पाप-पुण्यके विषयमें भी वही क्रम दिखायी देता है। हम लोग अन्तरका भाव देखते हैं। निन्दित कर्मके अन्दर पवित्र भाव, बाह्य पुण्यके अन्दर पापिष्ठका स्वार्थ छिपा हुआ रह सकता है, पाप-पुण्य, सुख-दुःख मनका धर्म, कर्म, आवरणमात्र है। हम यह जानते हैं; हम सामाजिक सुश्रृंखलाके लिये बाह्य पाप-पुण्यको कर्मका प्रमाण समझकर उसका अनुसरण करते हैं, किंतु अन्तरका भाव ही हमारे लिये आदरणीय होता है। जो संन्यासी आचार-विचार, कर्तव्य-अकर्तव्य, पाप-पुण्यके परे चले जाते हैं, जो जड़ोन्मत्त-पिशाचवत् आचरण करते हैं, उन्हीं सर्वधर्मपरित्यागी पुरुषको हम श्रेष्ठ कहते हैं। पाश्चात्य बुद्धि इस तत्त्वको ग्रहण करनेमें असमर्थ होती है; जो जड़वत् आचरण करता है उसे वह जड़ समझती है, जो उन्मत्तवत् आचरण करता है उसे विकृतमस्तिष्क समझती है, जो

7

पिशाचवत् आचरण करता है उसे घृणित, अनाचारी पिशाच समझती है, कारण सूक्ष्म दृष्टि नहीं है, वह अन्तरका भाव देखनेमें असमर्थ होती है।



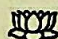
उसी तरह बाह्यदृष्टिपरवश होकर यूरोपके पंडित लोग यह कहते हैं कि भारतमें प्रजातंत्र किसी भी युगमें नहीं था। प्रजातंत्रसूचक कोई भी बात संस्कृतभाषामें नहीं पायी जाती, आधुनिक पार्लियामेण्टकी तरह कोई कानून बनानेवाली सभा भी नहीं थी, प्रजातंत्रका कोई बाहरी चिह्न न मिलनेके कारण प्रजातंत्रका अभाव सिद्ध होता है। हम भी इस पाश्चात्य युक्तिको यथार्थ मानते आ रहे हैं। परन्तु हमारे प्राचीन आर्य-राज्यमें प्रजातंत्रका अभाव नहीं था; प्रजातंत्रके बाहरी उपकरण अपूर्ण अवश्य थे, किंतु प्रजातंत्रका भाव हमारे समस्त समाज और शासनतंत्रके अंदर व्याप्त हो रहा था और प्रजाका सुख और देशकी उन्नति साधित करता था। पहले तो प्रत्येक गांवमें पूर्ण प्रजातंत्र था, गांवके लोग सम्मिलित होकर, सर्वसाधारणका परामर्श लेकर, वृद्ध तथा नेतृस्थानीय पुरुषोंके अधीन रहते हुए गांवकी व्यवस्था, समाजकी व्यवस्था किया करते; यह ग्राम्य प्रजातंत्र मुसलमानोंके अमलमें अक्षुण्ण बना रहा, ब्रिटिश शासनतंत्रके निष्पेषणसे वह अभी उस दिन नष्ट हुआ है। दूसरे, प्रत्येक छोटे-छोटे राज्यमें भी, जहां सर्वसाधारणको सम्मिलित करनेकी सुविधा थी वहां वैसी ही प्रथा विद्यमान थी, बौद्ध साहित्यमें, ग्रीक इतिहासमें, महाभारतमें इसका यथेष्ट प्रमाण

मिलता है। तीसरे, बड़े-बड़े राज्योंमें, जहां ऐसे बाहरी उपकरण-का होना संभव नहीं था, वहां प्रजातंत्रका भाव राजतंत्रको परि-चालित करता। प्रजाकी कानून बनानेवाली सभा नहीं थी, परन्तु राजाको भी कानून बनानेका या प्रचलित कानूनको बदल देनेका अधिकार लेशमात्र भी नहीं था। प्रजा जिस आचार-व्यवहार, रीति-नीति, कानून-कायदेको पहलेसे मानती आती थी, उसीकी रक्षा राजा करता था। ब्राह्मण लोग आधुनिक वकील और जजकी तरह राजाको प्रजा-अनुष्ठित नियम समझाते, संशयके स्थानमें निर्णय करते, क्रमशः जो परिवर्तन दिखायी देता उसे शास्त्रके रूपमें लिपि-बद्ध करते। शासनका भार राजापर ही था, किंतु वह क्षमता भी कानूनकी कठोर जंजीरसे बंधी हुई थी; उसके अतिरिक्त यह नियम था कि राजा वही कार्य करेंगे जिसे प्रजा अनुमोदित करेगी, वह ऐसा कार्य कभी नहीं करेंगे जिससे प्रजाको असंतोष हो; इस राज-नीतिक नियमको सभी मानते और तदनुसार आचरण करते। अगर राजा इस नियमको भंग करते तो प्रजा राजाको माननेके लिये बाध्य न होती।



प्राच्य और पाश्चात्यका एकीकरण इस युगका धर्म है। परन्तु इस एकीकरणमें यदि हम पाश्चात्यको आधार या मुख्य अंग बनावें तो हम भयानक भूल करेंगे। प्राच्य ही आधार है, प्राच्य ही मुख्य अंग है। बहिर्जगत् अन्तर्जगत्में प्रतिष्ठित है, अन्तर्जगत् बहि-र्जगत्में प्रतिष्ठित नहीं है। भाव और श्रद्धा, शक्ति और कर्मका

मूल स्रोत है, भाव और श्रद्धाकी रक्षा करनी चाहिये, पर शक्ति-प्रयोग और कर्मके बाहरी आकार और उपकरणसे आसक्त नहीं होना चाहिये। पाश्चात्य लोग प्रजातंत्रके बाहरी आकार और उपकरणमें ही फंस गये हैं। भावको परिस्फुट करनेके लिये बाहरी आकार और उपकरण है; भाव आकारका गठन करता है, श्रद्धा उपकरणका सृजन करती है। परन्तु पाश्चात्य लोग आकार और उपकरणमें इस प्रकार आसक्त हो गये हैं कि वे इस बातको देख ही नहीं पाते कि उस बाहरी प्राकट्यके अन्दर भाव और श्रद्धा मर रही हैं। आजकल प्राच्य देशोंमें प्रजातंत्रका भाव और श्रद्धा प्रबल वेगसे प्रस्फुटित होकर बाहरी उपकरणका सृजन कर रही हैं, बाह्य आकारका गठन कर रही हैं, परन्तु पाश्चात्य देशोंमें यह भाव मलिन हो रहा है, वह श्रद्धा क्षीण हो रही है। प्राच्य प्रभातोन्मुख हो रहा है, आलोककी ओर दौड़ा जा रहा है—पाश्चात्य तिमिरगामी रात्रिकी ओर लौट रहा है।



इसका कारण है बाह्य आकार और उपकरणकी आसक्तिसे उत्पन्न प्रजातंत्रका दुष्परिणाम। प्रजातंत्रके पूर्ण अनुकूल शासन-तंत्रका सृजन करके अमेरिका इतने दिन गर्व करता था कि उसके समान स्वाधीन देश जगत्‌में दूसरा नहीं है। परन्तु यदि वास्तवमें देखा जाय तो वहां प्रेसिडेण्ट और कर्मचारीगण कांग्रेसकी सहायतासे स्वेच्छानुसार शासन करते हैं, धनीके अन्याय, अविचार और सर्वग्रासी लोभको आश्रय देते हैं, स्वयं भी क्षमताका अपव्यवहार

कर धनी होते हैं। एकमात्र प्रतिनिधियोंके निर्वाचनके समय प्रजा स्वाधीन होती है, और उस समय भी धनी लोग प्रचुर मात्रामें अर्थ व्यय कर अपनी क्षमता अक्षुण्ण बनाये रखते हैं, पीछे भी प्रजाके प्रतिनिधियोंको खरीदकर इच्छानुसार अर्थशोषण करते हैं, आधिपत्य करते हैं। फ्रान्स प्रजातंत्र और स्वाधीनताकी जन्मभूमि है, किंतु जिन कर्मचारियों और पुलिसकी सृष्टि प्रजाकी इच्छासे विभिन्न शासनकार्य चलानेवाले यन्त्रके रूपमें हुई थी, अब वे ही बहुसंख्यक क्षुद्र स्वेच्छाचारी राजा बनकर बैठ गये हैं, प्रजा उनके भयसे कातर हो रही है। इंगलैंडमें अवश्य ही ऐसा कोई विभ्राट् उपस्थित नहीं हुआ है, किंतु प्रजातंत्रकी अन्यान्य विपत्तियां धीरे-धीरे बढ़ रही हैं। चंचलमति, अर्धशिक्षित प्रजाके प्रत्येक मत-परिवर्तनके कारण वहां शासनकार्य और राजनीति आलोड़ित होती है और इस कारण ब्रिटिश जाति पुरानी राजनीतिक कुशलताको खोकर बाहर-भीतर विपत्तिग्रस्त हो रही है। शासनकर्त्ता कर्तव्य-ज्ञानरहित हो गये हैं, वे अपने स्वार्थ और प्रतिष्ठाकी रक्षा करनेके लिये निर्वाचकोंको प्रलोभन दिखाकर, भय दिखाकर, गलत बातें समझाकर ब्रिटिश जातिकी बुद्धि विकृत कर रहे हैं, उसकी मतिकी अस्थिरता और चंचलताको बढ़ा रहे हैं। इन सब कारणोंसे एक ओर तो प्रजातंत्रवादको भूल समझकर एक दल स्वाधीनताके विरुद्ध हथियार उठा रहा है और दूसरी ओर अनार्किस्ट, सोशलिस्ट विप्लवकारियोंकी संख्या बढ़ रही है। इन दो दलोंका संघर्ष इंगलैंडमें चल रहा है—राजनीति-क्षेत्रमें; अमेरिकामें श्रमजीवी और लखपतियोंके विरोधसे, जर्मनीमें मत-संगठनसे, फ्रान्समें सेना और

नौसेनाके संग्रामसे, रूसमें पुलिस और हत्याकारीके संघर्षसे---सर्वत्र गोल-माल, चंचलता और अशान्ति फैल रही है।



बहिर्मुखी दृष्टिका यह परिणाम होना अनिवार्य है। कुछ दिन राजसिक तेजसे तेजस्वी बनकर असुर महान् श्रीसम्पन्न, अजेय हो जाते हैं, पर उसके बाद अन्तर्निहित दोष प्रकट हो जाता है, सब कुछ टूट-फूटकर धूलिसात् हो जाता है। भाव और श्रद्धा, सज्ञान कर्म, अनासक्त कर्म जिस देशकी शिक्षाका मूल मन्त्र है, उसी देशमें अंतर और बाह्यके, प्राच्य और पाश्चात्यके एकीकरणके द्वारा समाज, अर्थनीति, राजनीतिकी सभी समस्याओंकी सन्तोषजनक मीमांसा कार्यतः हो सकती है। किंतु पाश्चात्य ज्ञान और शिक्षाके अधीन होकर हम वह मीमांसा नहीं कर सकते। प्राच्यके ऊपर खड़े होकर पाश्चात्यको आयत्त करना होगा। अन्तरमें होगी प्रतिष्ठा और बाहरमें होगा प्रकाश। अगर हम भावके पाश्चात्य उपकरणका अवलम्बन लेंगे तो हम विपत्तिमें पड़ेंगे, हमें अपने स्वभाव और प्राच्य बुद्धिके उपयुक्त भावकी सृष्टि करनी होगी।

भ्रातृत्व

आधुनिक सभ्यताके जो तीन आदर्श या चरम उद्देश्य फ्रांसीसी राष्ट्रविप्लवके समय प्रचारित हुए थे वे साधारणतः हमारी भाषामें तीन तत्त्वों—स्वाधीनता, साम्य और मैत्री—के नामसे परिचित हैं। परन्तु पाश्चात्य भाषामें जिसे 'फ्रेटर्निटी' (Fraternity) कहते हैं वह ठीक मैत्री नहीं है। मैत्री मनका भाव है; जो सर्वभूतके कल्याणकी इच्छा करता है, किसीका भी अनिष्ट नहीं करता, उसी दयावान्, अहिंसापरायण, सर्वभूतहितरत पुरुषको 'मित्र' कहते हैं, मैत्री उसके मनका भाव है। ऐसा भाव व्यक्तिकी मानसिक सम्पत्ति है—यह व्यक्तिके जीवन और कर्मको नियन्त्रित कर सकता है; पर यह भाव राजनीतिक या सामाजिक श्रृंखलाका मुख्य बंधन नहीं बन सकता। फ्रान्सीसी राष्ट्रविप्लवके तीन तत्त्व व्यक्तिगत जीवनके नैतिक नियम नहीं हैं, बल्कि समाज और देशकी व्यवस्थाको नये रूपमें गठित करनेके उपयुक्त तीन सूत्र हैं, समाजकी, देशकी बाह्य अवस्थितिमें प्रकट होनेवाले प्राकृतिक मूल तत्त्व हैं। 'फ्रेटर्निटी' (Fraternity) का अर्थ है भ्रातृत्व।

फ्रान्सीसी विप्लवकारी राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता और समता प्राप्त करनेके लिये लालायित थे, भ्रातृत्वके ऊपर उनका उतना सुदृढ़ लक्ष्य नहीं था, भ्रातृत्वका अभाव ही फ्रान्सीसी राष्ट्रविप्लवकी अपूर्णताका कारण था। उस अपूर्व उत्थानके फल-

स्वरूप राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता यूरोपमें प्रतिष्ठित हुई, राजनीतिक साम्यने भी कुछ परिमाणमें, कुछ देशोंके शासनतंत्र और कानूनकी पद्धतिको अभिकृत किया। परन्तु भ्रातृत्वका अभाव होनेपर सामाजिक साम्य नहीं प्राप्त हो सकता; भ्रातृत्वके अभाव-में यूरोप सामाजिक साम्यसे वंचित रह गया। इन तीन मूल तत्त्वोंका पूर्ण विकास उनके पारस्परिक विकासके ऊपर निर्भर करता है; साम्य स्वाधीनताका आधार है, साम्यके न होनेपर स्वा-धीनता नहीं प्रतिष्ठित हो सकती। भ्रातृत्व साम्यका आधार है, भ्रातृत्वके न होनेपर साम्य नहीं प्रतिष्ठित हो सकता। भ्रातृभाव होनेपर भ्रातृत्व रह सकता है। यूरोपमें भ्रातृभाव नहीं है, यूरोप-में साम्य और स्वाधीनता कलुषित, अप्रतिष्ठित और असम्पूर्ण हैं-- इसी कारण यूरोपमें गोलमाल, विप्लव नित्यकी वस्तु बन गया है। इस गोलमालको, विप्लवको यूरोप गर्वके साथ उन्नति या Progress कहता है।

यूरोपमें जो कुछ भ्रातृभाव है वह देशके ऊपर प्रतिष्ठित है— वहां लोगोंका यह भाव है कि हम एक देशके लोग हैं, हमारा हिताहित एक है, एकता रहनेसे जातीय स्वाधीनता निरापद रहती है, और यही ज्ञान यूरोपकी एकताका कारण है। परन्तु अब उस-के विरुद्ध एक और ज्ञान खड़ा हो गया है और वह यह है कि हम सब मनुष्य हैं, सब मनुष्योंको एक हो जाना चाहिये, मनुष्य-मनुष्य-में भेद करना अज्ञान है, अनिष्टकर है; जातीयता भेदका कारण है, जातीयता अज्ञानजनित है, अनिष्टकारक है, अतएव जातीयता-का त्याग कर मनुष्यजातिका एकत्व प्रतिष्ठित करना चाहिये।

विशेषकर जिस फ्रान्समें स्वाधीनता, समता और भ्रातृत्वरूपी महान् आदर्श सबसे पहले प्रचारित हुआ था उसी भावप्रवण देशमें इन दो परस्पर-विरोधी ज्ञानोंका संघर्ष चल रहा है। अथच वास्तवमें देखा जाय तो ये दोनों ज्ञान और भाव परस्पर-विरोधी नहीं हैं। जातीयता भी सत्य है, मानवजातिकी एकता भी सत्य है; इन दो सत्योंका सामंजस्य होनेमें ही मानवजातिका कल्याण है; यदि हमारी बुद्धि इस सामंजस्यको स्थापित करनेमें असमर्थ हो, अविरोधी तत्त्वोंके विरोधमें आसक्त हो तो उस बुद्धिको भ्रान्त राजसिक बुद्धि कहना होगा।

समताशून्य राजसिक और सामाजिक स्वाधीनतासे ऊबकर यूरोप आजकल सोशलिज्म (समाजवाद) की ओर दौड़ा जा रहा है। दो दल उत्पन्न हुए हैं—अनार्किस्ट और सोशलिस्ट। अनार्किस्ट (अराजकतावादी) कहते हैं—यह राजनीतिक स्वाधीनता माया है, गवर्नमेण्टके नामसे बड़े लोगोंके अत्याचारका यन्त्र स्थापित कर राजनीतिक स्वाधीनताकी रक्षा करनेके वहाने व्यक्तिगत स्वाधीनताको पददलित करना इस मायाका लक्षण है, इसलिये सब प्रकारकी सरकारोंको उठा दो, सच्ची स्वाधीनता स्थापित करो। जब यह आपत्ति की जाती है कि कोई सरकार न होनेपर स्वाधीनता और समताकी रक्षा कौन करेगा, बलवान्के अत्याचारका निवारण कौन करेगा तो इसके उत्तरमें अनार्किस्ट यह कहते हैं कि शिक्षाके द्वारा पूर्ण ज्ञान और भ्रातृभावका विस्तार करो, ज्ञान और भ्रातृभाव स्वाधीनता और समताकी रक्षा करेंगे, यदि कोई भ्रातृभावका त्याग कर अत्याचार करे तो उसे कोई भी मृत्युदण्ड

दे सकता है। सोशलिस्ट यह बात नहीं कहते; वे कहते हैं कि गवर्नमेण्ट रहे, गवर्नमेण्टकी आवश्यकता है, किंतु समाज और शासनतंत्रको पूर्ण रूपसे साम्यके ऊपर प्रतिष्ठित करो, अभी जो समाज और शासनतंत्रमें दोष हैं वे सब संशोधित होंगे, मानवजाति पूर्ण सुखी, स्वाधीन और भ्रातृभावापन्न होगी। इसीलिये सोशलिस्ट समाजको एक करना चाहते हैं; व्यक्तिगत सम्पत्ति यदि न हो, समाजकी ही सम्पत्ति रहे—जैसे सम्मिलित परिवारकी सम्पत्ति किसी व्यक्तिकी नहीं होती, वरन् परिवारकी होती है, परिवार देह होता है और व्यक्ति उस देहका अंग होता है—तो समाजमें भेद नहीं रहेगा, समाज एक हो जायगा।

अनार्किस्टकी भूल यह है कि वह भ्रातृभाव स्थापित होनेसे पहले ही गवर्नमेण्टको नष्ट करनेकी चेष्टा करता है। पूर्ण रूपसे भ्रातृभाव स्थापित होनेमें अभी बहुत देर है, इस बीच शासनतंत्र उठानेका निश्चित फल होगा घोर अराजकताके कारण पशुभावका आधिपत्य। राजा समाजका केंद्र होता है, शासनतंत्रकी स्थापना कर मनुष्य पशुभावको अतिक्रम करनेमें समर्थ होता है। जब पूर्णरूपेण भ्रातृभाव स्थापित होगा तब भगवान् कोई भी पार्थिव प्रतिनिधि नियुक्त न कर, स्वयं पृथ्वीपर राज्य कर, सबके हृदयोंमें सिंहासन रखकर उसपर आसीन होंगे, ईसाइयोंका Reign of Saints—साधुओंका राज्य, हमारा सत्ययुग स्थापित होगा। पर मनुष्यजातिकी इतनी उन्नति अभी नहीं हुई है कि यह अवस्था शीघ्र ही आ सके, अभी इस अवस्थाकी केवल आंशिक उपलब्धि हो सकती है।

सोशलिस्टोंकी भूल यह है कि वे भ्रातृत्वके ऊपर साम्यको प्रतिष्ठित न कर साम्यके ऊपर भ्रातृत्वको प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा करते हैं। साम्यहीन भ्रातृत्व संभव है; पर भ्रातृत्वहीन साम्य नहीं टिक सकता, मतभेद, कलह और अधिकारकी उद्दाम लालसा-से वह विनष्ट हो जायगा। सबसे पहले पूर्ण भ्रातृत्व होगा, फिर उसके बाद पूर्ण साम्य।

भ्रातृत्व बाहरकी अवस्था है—अगर हम भ्रातृभावके साथ रहें, यदि सबकी एक सम्पत्ति, एक हित, एक प्रयास हो तो उसीको भ्रातृत्व कहते हैं। बाहरकी अवस्था अन्तरके भावके ऊपर प्रति-ष्ठित होती है। भ्रातृप्रेमसे भ्रातृत्व सजीव और सत्य होता है। उस भ्रातृप्रेमका भी एक आधार होना चाहिये। हम एक मांके सन्तान हैं, देशभाई हैं—यह भाव ही एकरूप भ्रातृप्रेमका आधार है; परन्तु उस भावसे राजनीतिक एकता आ सकती है, उससे सामाजिक एकता नहीं आ सकती। और भी गभीर स्थानमें प्रवेश करना होगा, जैसे अपनी मांको अतिक्रम कर हम सब देश-भाइयोंकी मांकी उपासना करते हैं, वैसे ही हमें देशको अतिक्रम कर जगज्जननीकी उपलब्धि करनी होगी। खण्ड शक्तिको अतिक्रम कर पूर्ण शक्तितक पहुंचना होगा। किंतु, जिस तरह भारतजननीकी उपासना करनेके लिये हम शरीरकी जननीको अति-क्रम करके भी उसे भूल नहीं जाते, उसी तरह जगज्जननीकी उपा-सना करनेके लिये हम भारतजननीको अतिक्रम करके भी उसे भूल नहीं जायंगे। वह भी काली है, वह भी मां है।

धर्म ही भ्रातृभावका आधार है। सभी धर्म यह बात कहते

हैं कि हम एक हैं, भेद अज्ञानसे, द्वेषसें उत्पन्न हुआ है; प्रेम सभी धर्मोंकी मूल शिक्षा है। हमारा धर्म भी यह कहता है कि हम सब एक हैं, भेदबुद्धि अज्ञानका लक्षण है, ज्ञानी सबको समान दृष्टि-से देखते हैं, सबके अन्दर एक आत्माके, समभावसे प्रतिष्ठित एक नारायणके दर्शन करते हैं। इसी भक्तिपूर्ण समतासे विश्वप्रेमका प्रादुर्भाव होता है। परन्तु यह ज्ञान मानवजातिके परम गन्तव्य स्थान, हमारी अन्तिम अवस्थामें जाकर सर्वव्यापी होता है, इस बीच हमें उसकी आंशिक अनुभूति ही प्राप्त करनी होती है, अन्तर में, बाहरमें, परिवारमें, समाजमें, देशमें, सर्वभूतमें प्राप्त करनी होती है। मनुष्यजाति परिवार, कुल, देश, सम्प्रदाय इत्यादिकी सृष्टि कर शास्त्र या नियमके बंधनके द्वारा उसे दृढ़ बनाकर इस भ्रातृत्वका स्थायी आधार स्थापित करनेका प्रयास सदासे करती आ रही है। अबतक यह प्रयास विफल ही हुआ है। प्रतिष्ठा है, आधार है, किंतु भ्रातृत्वकी प्राणरक्षाके लिये कोई अक्षय शक्ति चाहिये जिसमें वह प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनी रहे, वह आधार चिर-स्थायी बना रहे या नित्य नया होता रहे। भगवान्‌ने अभीतक उस शक्तिको प्रकट नहीं किया है। वह राम, कृष्ण, चैतन्य, रामकृष्णके रूपमें अवतीर्ण होकर मनुष्यके कठोर स्वार्थपूर्ण हृदयको प्रेमका उपयुक्त पात्र बननेके लिये तैयार करते आ रहे हैं। वह दिन कब आयेगा जब वह फिरसे अवतीर्ण होकर मानवहृदयमें चिरप्रेमानन्दको संचारित और प्रस्थापित करके पृथ्वीको स्वर्गतुल्य बना देंगे?

भारतीय चित्रविद्या

आज पाश्चात्य और प्राच्य सभी जातियां यह स्वीकार करने-के लिये बाध्य हुई हैं कि हमारी यह भारतजननी ज्ञानका, धर्मका, साहित्यका, शिल्पका अक्षय भंडार थी। किंतु पहले यूरोपकी यह धारणा थी कि जितनी ऊंची कोटिका हमारा साहित्य और शिल्प था उतनी उत्कृष्ट भारतीय चित्रविद्या नहीं थी, वरन् वह जघन्य, सौंदर्यहीन थी। हम लोग भी पाश्चात्य ज्ञानसे ज्ञानी बनकर, अपनी आंखोंपर यूरोपीय चश्मा पहनकर, भारतीय चित्र और स्थापत्यको देखते ही नाक सिकुड़ा लेते और इस तरह अपनी मार्जित बुद्धि और दोषरहित रुचिका परिचय देते। हमारे धनियोंके घर ग्रीक प्रतिमाओं और अंगरेजी चित्रोंके Cast या निर्जीव अनुकरण-से भर गये, साधारण लोगोंके घरोंकी दीवालें जघन्य तैलचित्रोंसे सुसज्जित होने लगीं। जिस भारतीय जातिकी रुचि और शिल्प-चातुरी जगत्में अनुपम थी, वर्ण और रूपको ग्रहण करनेमें जिस भारतीय जातिकी रुचि स्वभावतः ही निर्दोष थी, उसी जातिकी आंखें अंधी हो गयीं, बुद्धि भाव ग्रहण करनेमें असमर्थ हो गयी, रुचि इटलीके कुली-मजूरोंकी रुचिसे भी हीन हो गयी। राजा रवि-वर्मा भारतके श्रेष्ठ चित्रकारके रूपमें विख्यात हो गये। सम्प्रति कुछ रसज्ञ व्यक्तियोंके प्रयाससे भारतवासियोंकी आंखें खुल रही हैं, उन्होंने अपनी क्षमता, अपना ऐश्वर्य समझना आरंभ कर दिया है

श्रीयुत अवनीन्द्रनाथ ठाकुरकी असाधारण प्रतिभाकी प्रेरणासे अनुप्राणित होकर कुछ युवक लुप्त भारतीय चित्रकलाका पुनरुद्धार कर रहे हैं, उनकी प्रतिभाके कारण बंगदेशमें (साथ ही भारतमें भी) नवीन युगके लक्षण दिखायी दे रहे हैं। इसके वाद, आशा है, भारत अंगरेजोंकी आंखोंसे न देख अपनी आंखोंसे देखेगा, पाश्चात्यका अनुकरण करना छोड़कर, अपनी प्रांजल बुद्धिपर निर्भर कर फिरसे चित्रित रूप और वर्णके द्वारा अपना सनातन भाव व्यक्त करेगा।

भारतीय चित्रविद्याके प्रति पाश्चात्य लोगोंकी अरुचिके दो कारण हैं। वे कहते हैं कि भारतीय चित्रकार प्रकृति (Nature) का अनुकरण करनेमें अक्षम होते हैं, ठीक मनुष्यकी तरह मनुष्य, घोड़ेकी तरह घोड़ा, पेड़की तरह पेड़ न अंकित कर विकृत मूर्त्ति बनाते हैं, उन्हें Perspective (परिप्रेक्षण—दृश्य देखनेकी शक्ति) नहीं है, उनके चित्र विशेषत्वहीन और अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। उनकी दूसरी आपत्ति यह है कि इन चित्रोंमें सुन्दर भावों और सुन्दर रूपोंका नितान्त अभाव होता है। यह अन्तिम आपत्ति यूरोपीय लोगोंके मुंहसे अब नहीं सुनी जाती। हमारी पुरानी बुद्ध मूर्त्तिका अतुलनीय शान्तभाव, हमारी पुरानी दुर्गामूर्त्तिमें अपार्थिव शक्तिका प्राकट्य देखकर यूरोपियन लोग प्रीत और स्तम्भित हो जाते हैं। जो लोग विलायतमें श्रेष्ठ समालोचकके रूपमें विख्यात हैं उन्होंने स्वीकार किया है कि भारतीय चित्रकार भले ही यूरोपका Perspective (परिप्रेक्षण) न जानें, भारतका जो Perspective (परिप्रेक्षण) का नियम है वह बहुत सुन्दर, पूर्ण और संगत है।

यह बात ठीक है कि भारतीय चित्रकार तथा अन्यान्य शिल्पी ठीक बाह्य जगत्‌का अनुकरण नहीं करते; परन्तु उनके अनुकरण न करनेका कारण सामर्थ्यका अभाव नहीं बल्कि यह है कि उनकी चित्रकारीका उद्देश्य ही होता है बाह्य दृश्य और आकृतिका अतिक्रमण कर अन्तःस्थ भाव और सत्यको प्रकट करना। बाह्य आकृति इस आन्तरिक सत्यका आवरण, छद्मवेश है—इस छद्मवेशके सौंदर्यमें मग्न होकर हम उसे ग्रहण नहीं कर सकते जो इनके अंदर छिपा हुआ है। अतएव भारतीय चित्रकारोंने जान-बूझकर बाह्य आकृतिको बदलकर उसे आन्तरिक सत्यको प्रकट करनेके उपयुक्त बनाया है। वे कितने सुन्दर ढंगसे प्रत्येक अंग तथा चारों ओरके दृश्य, आसन, वेशके द्वारा मानसिक भाव या घटनाके अन्तरस्थ सत्यको प्रकट करते हैं—यह देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। यही भारतीय चित्रका प्रधान गुण है, चरम उत्कर्ष है।

पाश्चात्य लोग बाहरके मिथ्या अनुभवमें मग्न रहते हैं, वे छायाके भक्त हैं; प्राच्य लोग भीतरके सत्यका अनुसंधान करते हैं, हम 'नित्य' के भक्त हैं। पाश्चात्य लोग शरीरके उपासक हैं, हम आत्माके उपासक हैं। पाश्चात्य लोग नाम-रूपमें अनुरक्त रहते हैं, हम नित्यवस्तु पाये बिना किसी चीजसे संतुष्ट नहीं होते। यह प्रभेद जिस तरह धर्म, दर्शन और साहित्यमें पाया जाता है उसी-तरह चित्रविद्या और स्थापत्यविद्यामें भी सर्वत्र दिखायी देता है।